शार्ङ्गधरसंहिता

वैज्ञानिक विमर्शोपेत 'सुबोधिनी' हिन्दी टीका 'लक्ष्मी'-नामक टिप्पनी तथा पथ्यापथ्यादि विविध परिशिष्ट सहित।

इस अभिनव संस्करण के 'सुबोधिनी' टीका व लक्ष्मी टिप्पनी में विमर्श द्वारा ग्रन्थ के कठिन भावों को वैज्ञानिक ढंगसे सरलता पूर्वक स्पष्ट कर दिया गया है एवं रोगगणनाध्याय में प्रत्येक रोगों का निदान, लक्षण आदि का वर्णन करके अन्त के परिशिष्टों में ग्रन्थानुक्त रोगों का भी निदान, लक्षण, चिकित्सा तथा प्रत्येक रोगों का पथ्यापथ्य निर्देश एवं आकारादिक्रम से प्रत्येक रोगों के एकत्र स्वरस, चूर्ण, आसव, घृत, तैल, रस, लेप आदि की सूची भी दी गयी है। आज तक के सभी संस्करणों से अति विस्तृत श्रेष्ठ द्वितीय संस्करण पृ० ८१६ ६)

रसेन्द्रसारसंग्रह-सचित्र।

नवीन वैज्ञानिक 'रसचन्द्रिका' भाषाटीका विमर्श परिशिष्ट सहित।

यह रसचन्द्रिका टीका आज कल की सभी प्रकाशित हिन्दी टीका से सुविस्तृत सरल हुई है। सभी कठिन स्थलों पर टिप्पणियां दी गई हैं। मत-मतान्तरोंका उल्लेख व सभी स्थलों पर आधुनिक काल के अनुसार उपयुक्त मात्रायें भी दी गई हैं। इस भांति विमर्श-में प्रत्येक प्रयोगों की विशिष्टता का सुन्दर बिवेचन भी किया गया है। परिशिष्ट में नवीन रोगों पर रसों का प्रयोग, मानपरिभाषा, मूषा तथा पुटप्रकरण, अनुपान विधि तथा औषध बनाने के नियम आदि भी देकर टीकाकार ने इस ग्रन्थ को एक सम्पूर्ण रस ग्रन्थ ही बना दिया है। यन्त्रों के चित्र वर्णन सहित देकर स्पष्ट कर दिये गये हैं। तृ० संस्करण ६)

क्वाथमणिमाला-हिन्दी टीका सहित।

आयुर्वेद में विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध समस्त क्वाथों का बड़ा परिश्रम पूर्वक लेखक ने संग्रह किया है। केवल काष्ठ औषधियों द्वारा चिकित्सा करने वाले वैद्यों तथा प्राकृतिक (Naturopaths) के लिए यह अत्युत्तम तथा अद्वितीय संग्रह है। साथ में आधुनिक टिप्पणी भी है। [ह- १५२] १॥)

---

* श्रीः *

→* हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला *←

१६६

श्रीः ॥

बिहारप्रान्तीय-मध्यमपरीक्षोपयुक्तः—

आयुर्वेद-विज्ञानसारः

आयुर्वेदाचार्य-ज्यौतिषाचार्य-ज्यौतिषतीर्थ-

पण्डितश्रीयुगेश्वरझाशर्मणा

सङ्कलितः, 'विद्योतनी' टीकया विभूषितश्च ।

भिषग्रत्न-पण्डितश्रीब्रह्मशङ्करशास्त्रिणा

टिप्पनी-परिशिष्टादिना परिवर्धितः

संस्कृतः सम्पादितश्च ।

प्रकाशकः—

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः,

चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस,

बनारस सिटी ।

सं. २००२] मूल्य ३) [ई. १९४५

THE

HARIDAS SANSKRIT SERIES

169.



ĀYURVEDA VIJÑĀNASĀRA

COMPILED WITH

THE VIDYOTINI HINDI COMMENTARY

By

J. A. J. T. AYURVEDACHARYA

PANDIT SRI YUGESHWAR JHA SHARMA

EDITED WITH NOTES Etc., by

PANDIT SRI BRAHMA SHANKAR MISHRA

PUBLISHED BY

JAYA KRISHNA DAS HARI DAS GUPTA

The Chowkhamba Sanskrit Series Office.

BENARES.

1945

उपोद्घातः ।

पुराऽऽयुर्वेदविज्ञान-मज्ञानान्धदिवाकरम् ।
श्रीमद्विनोदलालाख्यो भिषजां सङ्गृहीतवान् ॥ १ ॥
यमादाय भिषग्वर्य्यो रोगध्वान्तगृहं व्रजेत् ।
दोषिदोषं निराकर्त्तुं दोषेव दिवसाधिपः ॥ २ ॥
विहारप्रान्तशिक्षायाः परीक्षायां यतो बुधैः ।
निर्धारिता अस्य केचिद् विचित्रा रोगराशयः ॥ ३ ॥
तेषां पृथक् प्रकाशो न प्रकाशे वाप्रकाशनम् ।
नैव टीका कृता कैश्चि-च्छात्रैः संप्रार्थितोऽन्वहम् ॥ ४ ॥
चौखम्बापुस्तकाध्यक्षै-श्छात्रोपकृतिकर्त्तृभिः ।
परिज्ञापाठ्यनिष्ठाना-मातङ्कानां समासतः ॥ ५ ॥
निदानानि चिकित्साश्च सङ्कलय्य कृता ततः ।
हिन्दीसुभाषया व्याख्या विद्योतन्यभिधा मया ॥ ६ ॥
मधेसरापुरेऽध्याप-यता यागेश्वरप्रिये ।
विद्यालये मुदाऽलेखि श्रीयुगेश्वरशर्म्मणा ॥ ७ ॥
श्रीजयकृष्णदासाख्यै-र्हरिदासतनूद्भवैः ।
पुराऽऽयुर्वेदविज्ञान-सारनाम्ना प्रकाशितः ॥ ८ ॥
उपकारोऽनया कश्चि-च्छात्राणां चेद्भविष्यति ।
श्रमस्तदाऽस्याः करणे सफलो मे भविष्यति ॥ ९ ॥
यन्त्रमुद्रणदोषाद्य-क्रमाद्वा लेखदोषतः ।
त्रुटिः क्षम्या युगेशोऽहं सन्ततं तद्विदोऽर्थये ॥ १० ॥

दीपावली
सं० २००२

विनीतः—
श्री युगेश्वरझा शास्त्री

श्रीश्रीगौरकृष्णः शरणम् ।

सम्पादकीया द्वित्राः शब्दाः—

अयि ! आयुर्वेदविज्ञानसार-रसास्वादनदत्तादरा विद्यार्थिवरा वैद्यवराश्च !

प्रस्तुत पुस्तक 'आयुर्वेदविज्ञानसार' के संकलनकर्ता श्रीयुगेश्वरझाजी आयुर्वेदाचार्य, ज्यौतिषाचार्य, ज्यौतिषतीर्थ ने विद्यार्थियों की असुविधा दूर करने के लिये 'विद्योतनी' नामकी हिन्दी टीका देकर इसकी उपयोगिता को बढ़ा दिया है। और उसमें रोगों का विशेष भाषा-इङ्गलिश आदि में नाम देकर और भी उत्तमता कर दी है। किन्तु फिर भी ग्रन्थ में यथास्थल उपयुक्त विषयों का टिप्पणी रूप में समावेश करना तथा ग्रन्थस्थित यत्र, तत्र पारिभाषिक शब्दों एवम् ग्रन्थान्तरोक्त योगों का विशेष विवरण परिशिष्ट रूप में लिखना अवशिष्ट समझ कर मैंने विद्यार्थियों के प्रसन्नतार्थ ग्रन्थ में उपयुक्त टिप्पणी और ग्रन्थान्त में परिशिष्ट देकर इस ग्रन्थ को विशिष्ट बनाने का यथामति प्रयत्न किया है।

आशा है कि इससे इस ग्रन्थ को सर्वापेक्षया अधिक उपयोगी समझ कर परीक्षार्थी विद्यार्थी तथा वैद्यगण अवश्य ग्रहण कर मुझे कृतकृत्य करेंगे।

और इसमें सम्पादन करते समय ज्ञाताज्ञात जो त्रुटियां हुई हैं, उन्हें क्षमा कर अपनी उदारता का भी परिचय देंगे। किं बहुना विज्ञेष्विति शम्।

श्रीराधारमणमन्दिर
बुलानाला काशी।
दीपावली. सं. २००२

आयुर्वेदविज्ञानसारग्राहिणामनुग्राह्यो-
भिषग्रत्नब्राजमोहनि-
श्रीब्रह्मशङ्करमिश्र शास्त्री

आयुर्वेदविज्ञानसारविषयानुक्रमणिका—

आयुर्वेदविज्ञानसारपरिशिष्टविषयानुक्रमणिका—

आयुर्वेदविज्ञानसारे समुदाहृता गदाः—

इति ।

॥ श्रीः ॥

आयुर्वेदविज्ञानसारः

'विद्योतनी' भाषाटीकाऽभ्युपेतः ।

अथ मङ्गलाचरणम्—

तारानाथप्रियं नत्वा गुरुं श्रीचन्द्रशेखरम् ।
अथायुर्वेदविज्ञान-सारस्य विवृतिं ब्रुवे ॥ १ ॥
जानकीदर्शनप्रीतौ जानकीदर्शनाभिधौ ।
प्रणम्य पितरौ प्रीत्या भाषाटीकां करोम्यहम् ॥ २ ॥

अथ यकृद्रोगाधिकारः ॥ १ ॥

तत्रादौ यकृद्रोगस्य निदानम्—

मद्यातिपानादत्युष्ण-गुर्वन्नस्य निषेवणात् ।
वेगरोधाद्दिवास्वप्ना-न्निशि चापि प्रजागरात् ॥ १ ॥
अतिव्यवायभाराध्व-सेवनादभिघाततः ।
तथाऽन्यैः कर्मभिर्घोरै-र्यकृद्रोगा भवन्ति हि ॥ २ ॥

अधिक शराब पीनेसे, अधिक गर्म और भारी अन्न खाने से, पैखाना-पेशाब और अधोवायुके वेग को रोकनेसे, दिनमें सोने और रात में जागने से, अत्यन्त स्त्री-संग करने, बोझा उठाने और राह चलनेसे, चोट आदि लगने से और अन्य भी कठिन कार्यों को करनेसे यकृत्संबन्धी रोग होते हैं ॥ १-२ ॥

अथ यकृतः स्थानम्—

अधो दक्षिणतो ज्ञेया हृदयाद्यकृतः स्थितिः ।
व्याधयो बहवस्तत्र भवेयुर्भूरिदुःखदाः ॥ ३ ॥

हृदय के नीचे दाहिनी पसलीमें यकृतका स्थान है । वहां अधिक दुःख देनेवाली अनेक व्याधियां होती हैं ॥ ३ ॥

अथ यकृतो लक्षणम्—

म्लाने तस्मिन् पुरीषस्या-प्रवृत्ति स्वल्पपित्तता ।
पाण्डुत्वं कर्दमाभत्वं चोदन्याऽऽविलमूत्रता ॥ ४ ॥

उद्गारसदनाध्मान-च्छर्दनोत्क्लेशनान्यपि ।
प्रातस्तिक्तास्यता नाड्याः काठिन्यं वह्निमन्दता ॥ ५ ॥
देहस्य च मृत्प्राभत्वं रसना मलसंयुता ।
लिङ्गान्येतानि जायन्ते तत्राप्याक्षिप्तिवद्व्यथा ॥ ६ ॥

यकृत के म्लान होने से पैखानेमें रुकावट, पित्तकी कमी, पाण्डुरोग, कीचड़ के समान शरीर की रंगत, प्यास, मैला पेशाब, डकार, कमजोरी, पेट फूलना, वमन, जी मिचलाना, सुबहमें मुखमें कड़वाहट, नाड़ी का कड़ापन, मन्दाग्नि, मट्टीसी शरीर की रंगत और जीभ मैली होती है । तथा यकृतस्थानमें खेंचने के समान दुःख होता है ॥ ४-६ ॥

अथ वृद्धि गतस्य यकृतो लक्षणम्—

गते यकृति संवृद्धिं वेदना तत्र जायते ।
उरोऽस्थ्नि दक्षिणे स्कन्धे सक्थ्नि चाप्यपसव्यगे ॥ ७ ॥
दक्षिणस्य भवेज्जाड्यं बाहोस्तिक्तरसास्यता ।
विवर्णत्वं पुरीषस्य कामो लोहितमूत्रता ॥ ८ ॥
अरतिर्बलहानिश्च ज्वरो बद्धाल्पविट्कता ।
पीताक्षत्वं च पार्श्वेन शेते सव्येन चातुरः ॥ ९ ॥
तोदभेदौ तथा दाहः कामलाऽप्यस्य जायते ।
निद्रानाशस्तृषा शोथ-स्तथा सत्त्वस्य संक्षयः ॥ १० ॥
विद्रधिर्यकृति स्याच्च प्रायेण प्राणनाशनः ।
तेन भाग्यबलात् कोऽपि जन्तुष्वेकः प्रमुच्यते ॥ ११ ॥

यकृत के अधिक बढ़जाने पर-छाती की हड्डी, दाहिना कंधा और दाहिना पैर (ऊरुभाग) में दर्द होता है । दाहिनी बांह जकड़ जाती है । मुख में कड़वाहट, पैखाना बदरंग, कामकी चेष्टा, लाल रंगका पेशाब, मनमें उद्वेग, कमजोरी, ज्वर, थोड़ा २ कड़ा पैखाना और पीली आंखें होती हैं । इसका रोगी बाँई करवट से सोता है और उसके शरीर में कांटा चुभने तथा शस्त्र से टुकड़ा२ करने के समान कष्ट होता है । रोगी को यकृत के स्थान में जलन और कामला की बीमारी होती है । इसके रोगी को नींद नहीं आती, अधिक प्यास, शरीर में सूजन, ताकतकी कमी और विद्रधि रोग होता है । जोकि यकृत रोगमें अधिकतर जान लेनेवाला होता है । इस बीमारी से सैकड़ों में कोई २ भाग्यवान् आदमी छुटकारा पाता है ॥ ७-११ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश-Liver लीवर । मैथिली-यकरित । हिन्दी-यकृत । संस्कृत-यकृत । यूनानी-जिगर ।

अथ यकृद्रोगस्य चिकित्सा—

प्लीहोद्दिष्टाः क्रियाः सर्वा यकृद्रोगे समाचरेत् ।
प्रातर्मूत्रेण संस्वेदः प्लीहवत्तत्र चेष्यते ॥ १२ ॥

यकृत रोगमें प्लीहाधिकारोक्त सारी दवा होनी चाहिए और प्लीहाकी चिकित्सा के अनुसार सुबहमें गोमूत्रके द्वारा संस्वेदन क्रियाओं को करे ॥ १२ ॥

क्षारं विडङ्गकृष्णाभ्यां पूतीकस्याम्बुनिःसृतम् ।
पिबे-प्रातर्यथावह्नि यकृत्प्लीहप्रशान्तये ॥ १३ ॥

यकृत और प्लीहारोग के शान्ति-हेतु सुबहमें करंजके क्राथ के साथ जवाखार और पीपलका चूर्ण समान भागसे तथा उसी के समान वाइविरङ्ग का चूर्ण मिलाकर सेवन करावे ॥ १३ ॥

जलौकोभिर्हरेद्रक्तं क्षारं वा तत्र पातयेत् ।
शिग्रुत्वग्-राजिकाचूर्णै-र्लेपस्तत्र च युज्यते ॥ १४ ॥

यकृत रोगमें जोंक लगाकर खून को निकाल कर वहाँ सहिजन के छाल, राई और चूने को समभाग पीसकर लगादेवे ॥ १४ ॥

तोयेन प्रस्थमानेन महाद्रावककर्षकम् ।
मेलयित्वाऽथ तत्स्थानमूरुङ्घ्रचादिञ्च मर्दयेत् ॥ १५ ॥

एक प्रस्थ पानीमें एक कर्ष महाद्रावक (सोनामकखी, सेंधानमक, रसौत, समुद्रफेन, सज्जीखार, मोचरस, सोहागा, नौसादर, फिटकिरी, कासीस और यवाखार इनका द्रावक) मिलाकर इससे यकृतकी जगह, जांघ और पैरको मलवा देवे ॥ १५ ॥

पीतमूल्यभयाधात्री-द्राक्षाऽऽरग्वधसिन्धुजैः ।
रेचयेद्रसचूर्णेन तैलेनैरण्डजेन वा ॥ १६ ॥

रेवतचीनी, हरड़, आंवरा, दाख, अमलतास और सेंधा नमक इनके समान का चूर्ण से अथवा रस चूर्ण (पारद-चूर्ण) से किंवा अंडी के तेलसे यकृत् के रोगी को पैखाना कराना चाहिये ॥ १६ ॥

अग्निप्रभावटी—

सैन्धवं नरसारं च यवक्षारं तथा विडम् ।
मर्दयेद्रससिन्दूरं पटालमूलजैः रसैः ॥ १७ ॥
माषमानां वटीं कृत्वा छायाशुष्कां समाचरेत् ।
प्रातः प्रातः पाययेत्तां कोकिलाक्षाम्भसा समम् ॥ १८ ॥
यकृद्रोगं महाघोरं प्लीहानमतिदारुणम् ।
वाताष्ठीलां वह्निमान्द्यं गुल्मं चैषा व्यपोहति ॥ १९ ॥

सत्येनाप्यनृतेनापि वचसाऽऽश्वास्य चातुरम् ।
ईश्वरं मनसा ध्यात्वा सर्वापद्विनिवारणम् ॥ ३३ ॥
क्षिप्रहस्तो बली धीरः स्थिरचित्तो विचक्षणः ।
बहुशो दृष्टकर्मा च कृतकर्माऽभयो भिषक् ॥ ३४ ॥
शस्त्रं शस्त्रगुणोपेतं परिगृह्य त्रिकूर्चकम् ।
सवेदनं शोथयुतं भित्त्वा चर्म सुलोहितम् ॥ ३५ ॥
अन्तः प्रवेशयेदाशु विद्रधिर्भिद्यते यथा ।
बहिर्नयेत्ततः शस्त्रं तस्य नाडिकया विना ॥ ३६ ॥
अवधानेन तत्कार्यं नानिलोऽन्तर्यथा विशेत् ।
ततो जलाभिषेकाद्यैः शस्त्रगतव्यथाऽऽकुलम् ॥ ३७ ॥
समाश्वास्यापसव्येन पार्श्वेन शाययेत्तु तम् ।
सक्षीरमतसीकल्कं साज्यं तत्र च लेपयेत् ॥ ३८ ॥
अहिफेनाऽऽसवं सम्यङ्मात्रया परियोजयेत् ।
क्षीरं मांसरसं चैनं पाययेद्बलसाधनम् ॥ ३९ ॥

शस्त्र-प्रयोग करने के पहले बल और प्राणके लिये हितकारक मद्य पिलाकर 'अग्रोपहरणीयोक्त' शस्त्रक्रियाकी जल आदिक सामग्री को रखकर सत्य और झूठ बातों से रोगीको संतोष देकर, सारे कष्टों को हटाने वाले परमात्माको मनसे ध्यान कर, शीघ्रहस्त, बलवान्, धैर्यवान्, स्थिरचित्त, शस्त्र-क्रिया में निपुण, अनेकवार शस्त्र क्रिया को देखा हुआ और किया हुआ, निडर वैद्य-शस्त्र के सारे प्रशस्त गुणसे युक्त 'त्रिकूर्च' नामक शस्त्र को उठाकर जहां दुखता हो और फूला हुआ हो उस जगहके लाल चमड़े को चीरकर शीघ्र शस्त्र भीतर ऐसे पैठाना चाहिए जिससे विद्रधि फुटजाय, बादमें शस्त्र को विना नाड़ी के बाहर निकालकर सावधानीके साथ उसका उपचार करना चाहिए जिससे भीतर हवा न पैठ सके। बादमें शस्त्रकर्मके दुःखसे व्याकुल रोगी को जलाभिषेचन और धैर्य की कथा आदि से स्थिर कर बायें करवट से सुलादेवे। तीसी, गाय का घी और दूध का कल्क बनाकर उस पर लगादेवे। बादमें उपयुक्त मात्रासे अहिफेनासव, दूध और मांसका सुरुआ बलकेलिये पिलाना चाहिये ॥ ३२-३९ ॥

ततो मासद्वयं याव-दातुरः प्राप्तजीवितः ।

क्षि-शलाका-क्षार-जलौकाऽ-लाबु-जाम्बवौष्ठ-पिचु-प्रोत-सूत्र-पत्र-पट्ट-मधु-घृत-वसा-पय-स्तैल-तर्पण-कषाया-लेपन-कल्क-व्यजन-शीतो-ष्णोदक-कटाहादीनि, परिकर्मिणश्च स्निग्धाः स्थिरा बलवन्तश्च ।

सुखं तिष्ठेत्त्यजेच्छ्रान्तिं भुञ्जीत लघु पोषणम् ॥ ४० ॥

उसके बाद यकृतसे मुक्त रोगी दो महीने तक मिहनत को छोड़ कर सुखसे रहे और हलका तथा पौष्टिक भोजन करे ॥ ४० ॥

विद्रधौ महति प्रायः शस्त्रमुत्पलपत्रकम्(१) ।

युञ्ज्यान्नोपक्रमेज्जन्तुं संजातानेकविद्रधिम् ॥ ४१ ॥

वैद्य को उचित है कि वह एकही बड़ी विद्रधिको देखकर उसके ऊपर 'उत्पलपत्रक' नामक यन्त्र का प्रयोग करे । और यदि अनेक विद्रधि जिसे हों तो ऐसे रोगी की चिकित्सा न करे ॥ ४१ ॥

अथ यकृद्रोगेऽपथ्यम्—

मद्यमग्न्यातपं श्रान्तिं गुर्वन्नं विषमाशनम् ।

तीक्ष्णाशनं दिवास्वापं निशि चापि प्रजागरम् ॥ ४२ ॥

तौर्यत्रिकमथास्थानं शोकचिन्ताभयानि च ।

क्रोधवेगं वेगरोधं यकृद्रोगी परित्यजेत् ॥ ४३ ॥

यकृत का रोगी—मद्य, अग्नि, धूप, श्रम, भारी और विषम भोजन, कड़वा भोजन, दिनमें सोना, रात में जगना, तौर्यत्रिक (नाच-गान और बाजा), घूमना, शोक, चिन्ता, भय, क्रोध और पैखाना-पेशाब तथा अधोवायुके वेगों को रोकना, इन्हें त्याग करे ॥ ४२-४३ ॥

अथ यकृद्रोगे पथ्यम्—

जीर्णज्वरे हितं यद्यत्–तत्तदत्र हितं मतम् ।

यकृत्–प्लीहामये चापि तथा ज्ञेयं हिताहितम् ॥ ४४ ॥

जीर्णज्वराधिकार में कहे हुए पथ्य को यकृत रोग में पथ्य माना गया है अतः यकृत तथा प्लीहारोगमें पथ्य और अपथ्य जीर्ण ज्वराधिकार का ही समझना चाहिए ॥ ४४ ॥

इति यकृद्रोगाधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥

अथ हृद्रोगाधिकारः ॥ २ ॥

तत्र हृद्रोगस्य निदानम्—

अत्युष्णगुर्वन्नकषायतिक्त–श्रमाभिघाताध्यशनप्रसङ्गैः ।

---

(१) उत्पलपत्रकलक्षणम्—उत्पलपत्रमिव पत्रं यस्य तच्छेदन–भेदन–लेखनार्थकशस्त्रम् । उक्तं च—

तुल्यमुत्पलपत्रेण तीक्ष्णधारं समाहितम् । षडङ्गुलं प्रमाणेन शस्त्रमुत्पलपत्रकम् ॥

तत्पत्रं ग्र्यङ्गुलायामं कार्यमङ्गुलविस्तृतम् ॥

सञ्चिन्तनैर्वेगविधारणैश्च जायेत रोगो हृदयेऽतिघोरः ॥ ४५ ॥

अधिक गर्म, गुरु पदार्थ, कषायरस और तीतरस को खानेसे: मिहनत करने और छातीमें चोट लगने से, पेट को भरे रहने पर भी पुनः खाने से, चिन्ता करने और पैखाना आदिके वेगको रोकनेसे, हृदय में जो भयानक रोग पैदा होता है, उसे 'हृद्रोग' कहते हैं ॥ ४५ ॥

हृद्रोगस्य निदानलक्षणे—

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः ।
हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥ ४६ ॥

अपने गुणसे रहित (निदान सेवन से दूषित) दोष (वात, पित्त और कफ) हृदय में जाकर रसको दूषित कर हृदय में जिस बीमारी को पैदा करता है, उसे 'हृद्रोग' कहते हैं ॥ ४६ ॥

अथ वातिकहृद्रोगस्य लक्षणम्—

आयम्यते मारुतजे हृदयं तुद्यते तथा ।
निर्मथ्यते दीर्य्यते च स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च ॥ ४७ ॥

वातसे उत्पन्न हुए हृद्रोग में हृदय को खींचने, सूई चुभोने, मथने, आरा से चीरने, फोड़ने और उखाड़ने के समान कष्ट होता है ॥ ४७ ॥

अथ पैत्तिकहृद्रोगस्य लक्षणम्—

तृष्णोष्मदाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयक्लमः ।
धूमायनञ्च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो मुखस्य च ॥ ४८ ॥

पित्तसे हुए हृद्रोगमें प्यास, गर्मी, जलन, चूसने के समान पीड़ा होना, हृदय में बेचैनी, मुंहसे धुआंका आना, मूर्च्छा, पसीना और मुंहका सूखना ये लक्षण होते हैं ॥ ४८ ॥

अथ श्लैष्मिकहृद्रोगस्य लक्षणम्—

गौरवं कफसंस्रावोऽ-रुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम् ।
माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि ॥ ४९ ॥

कफ से हुए हृद्रोग में, छाती भारी, मुंहसे कफ का आना, भोजनमें अरुचि, हृदय में जकड़ाहट, मन्दाग्नि और मुंह-मीठा, ये लक्षण होते हैं ॥

अथ सान्निपातिकहृद्रोगस्य लक्षणम्—

विद्यात् त्रिदोषमप्येवं सर्वलिङ्गं हृदामयम् ॥ ५० ॥

संनिपात (वात, पित्त और कफ) से हुए हृद्रोगमें वात, पित्त और कफसे उत्पन्न हृद्रोगों के पूरे २ सभी लक्षण होते हैं ॥ ५० ॥

अथ क्रिमिजहृद्रोगस्य निदानसंप्राप्ती—

त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते ।
तिलक्षीरगुडादींश्च ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ ५१ ॥
मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चाप्युपगच्छति ।
संक्लेदात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥ ५२ ॥

जो निर्बुद्धि उपर्युक्त सान्निपातिक हृद्रोग में तिल, दूध और मीठा खाता है उसके हृदय में गाँठ पड़ जाती है । और किसी (१)मर्म के स्थान में अन्न का रस पानी होकर इकट्ठा होता है और अन्न-रस के पानी हो जाने पर उस मृतक-प्राय रोगीके अन्दर कीड़े हो जाते हैं ॥ ५१-५२ ॥

अथ क्रिमिजहृद्रोगस्य लक्षणम्—

उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः ।
अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोषश्च क्रिमिजे भवेत् ॥ ५३ ॥

कृमिजन्य हृद्रोगमें जी मिचलाना, मुंहसे अधिक पानी निकलना, सीनेमें दर्द, शूल, हृदय में कंप, आंखोंमें अंधेरापन, अरुचि, आंखें काली और शोष ये लक्षण होते हैं ॥ ५३ ॥

अथ हृद्रोगोपद्रवाः—

क्लमस्तन्द्रा भ्रमः शोषो ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः ।
क्रिमिजे तु क्रिमीणां ये श्लैष्मिकाणां हि ते मताः ॥५४॥

क्लान्ति, तन्द्रा, भ्रम और शोष ये वात आदिक हृद्रोगों के उपद्रव होते हैं और कीरके हृद्रोग में कफजहृद्रोग का उपद्रव (भ्रम) होता है ॥ ५४ ॥

विशेष भाषा—

इङ्गलिश-हार्टडिजीज । मैथिली-हृदयशूल । हिन्दी-कलेजादर्द । संस्कृत-हृद्रोग । यूनानी-जातुल कुजाज ।

अथ तन्त्रान्तरोक्तानां हृद्रोगाणां निदानं लक्षणं च—

[(२)तत्रावरणिकस्य निदानं लक्षणं च—

आमवाताद् वृक्कदोषा-च्छीताद्रंत्वनिषेवणात् ।
हृत्कोष्ठावरणी क्षिप्रं पीड्यते ह्यकृतात्मनः ॥ १ ॥

---

(१) मर्मस्थानानि—"भ्रूमध्यकण्ठगलशङ्खकटीकपृष्ठ-ग्रीवागुदाण्डपदपाणियुगास्थिसंधीन् ।
वैद्याः शरेचरणमितानि वदन्ति मर्मस्थानानि चाङ्गगतिनाशकराणि तानी"ति॥

(२) कोष्ठस्थः पाठस्तन्त्रान्तरोक्ततया मूलग्रन्थाद् बहिः स्थोऽत्र पृथक् संख्यया सनाथीकृत्य स्थापितः (सं० द०)

तत्र दाहोष्णता शोफो गौरवं महती व्यथा ।
कोष्ठसंवेपनं कासो दौर्बल्यं श्वासकृच्छ्रता ॥ २ ॥
नासामार्गेण रक्तस्य स्रुतिर्वह्नेश्च मन्दता ।
शाखासु शोफो धमनी भवेद् विषमगामिनी ॥ ३ ॥
नाम्नाऽऽवरणिको ज्ञेय व्याधिर्विद्वद्भिरुच्यते ॥ ४ ॥

(१) आमवात से, वृक्कदोष से, ठण्ढी तथा गीली भूमि में रहने से अविवेकी लोगों की हृत्कोष्ठ की आवरणी शीघ्र दोषों से पीडित हो जाती है जिससे उसमें दाह तथा उष्णता उत्पन्न हो जाती है। एवम्, शोथ, गुरुता, अधिक व्यथा, कोष्ठमें विशेष कम्प, खांसी, दुर्बलता, श्वास लेने में कठिनता, नाक से खून निकलना, अग्नि की मन्दता, हाथ-पैर में शोथ, नाड़ी की विषम गति ये सब लक्षण यदि उत्पन्न हों तो वैद्य लोग इसे 'आवरणिक' नामक हृद्रोग बतलाते हैं। इस रोगकी चिकित्सा उत्पन्न होते ही करनी चाहिये। कभी भी-उपेक्षा नहीं करनी उचित है ॥ १-४ ॥

विशेष भाषा-इङ्गलिश-Pericarditis (पेरिकार्डाइटिस्) । संस्कृत-आवरणिकः । मैथिली-करेजकम्प ।

अथ कौष्ठिक (हृद्द्वारप्रदाह)स्य निदानं लक्षणं च—

आमवाताच्चाभिघातात् तथाऽऽवरणिकाद् गदात् ।
हृत्कोष्ठे जायते शोथो गद एष हि कौष्ठिकः ॥ ५ ॥
ज्वरो दाहोऽरुचिः कम्पो वैवर्ण्यं वह्निसंक्षयः ।
श्वासः कासो राजयक्ष्मा कोष्ठे पूयस्य संचयः ॥ ६ ॥
मूर्च्छाऽऽक्षेपः प्रलापश्च नाडी विषमवाहिनी ।
गदाद् घोरतरादस्माद् भाग्यान् कोऽपि प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

आमवात से, आघात पहुंचनेसे तथा 'आवरणिक' नामक हृद्रोग होने से हृत्कोष्ठ में शोथ हो जाताहै। इसी को 'कौष्ठिक' रोग कहते हैं। इसमें ज्वर, दाह, अरुचि, कम्प, विवर्णता, अग्नि-मन्दता, श्वास, खांसी, राजयक्ष्मा, हृत्कोष्ठ में पूय (पीब) का संचय, मूर्च्छा, आक्षेप रोग, प्रलाप, नाड़ीकी विषम गति ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ५-७ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश—Endocarditis (इण्डोकार्डाइटिस्) । संस्कृत-कौष्ठिकः (हृद्-द्वारप्रदाह) । मैथिली-करेजमें पीजु ।

अथ पृथुकस्य (हृत्पेशीवृद्धेः) निदानं लक्षणं च—

शोणितस्य गतौ कोष्ठे व्याहतायामनात्मनः ।

---

(१) आवरणिकाद्युक्तरोगाणां भाषाटीका संपादकेन कृता ।

तन्पेशी पृथुतां याति मिथ्याऽऽहारविहारतः ॥ ८ ॥
हृद्वेपथुर्व्यथा तत्र दौर्बल्यं श्वासकृच्छ्रता ।
अरतिभ्रममोहा च चिह्नानि पृथुके गदे ॥ ९ ॥

अपने मनको कब्जे में नहीं रखने वाले लोगों को मिथ्या आहार-विहार से कोष्ठमें रक्त की गति की रुकावट होने पर वहां की पेशी मोटी हो जाती है जिससे हृदय में कम्प तथा पीड़ा होने लगती है और दुर्बलता, श्वास लेने में कठिनता, बेचैनी, भ्रम, और मोह उत्पन्न हो जाताहै। ये सब लक्षण 'पृथुक' नामक रोगके हैं ॥८-९ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश-Hypertrophy of the Heart (हाइपरट्रॉफी ऑफ् दी हार्ट) । संस्कृत-पृथुकः (हृत्पेशीवृद्धिः) । मैथिली—करेजक सूत मोट ।

अथायामिकस्य (हृदयवृद्धेः) निदानं लक्षणं च—

हृत्कोष्ठप्रसृतिर्नाम्ना व्याधिरायामिको मतः ।
श्वासः शोथो भ्रमो मूर्च्छा हृत्कम्पो वह्निमन्दता ॥१०॥
जलोदरमनिद्रत्वं बलमांसपरिक्षयः ।
एभिरन्यैश्च विज्ञेय-श्चिह्नैरायामिको गदः ॥ ११ ॥

जिसमें हृत्कोष्ट की वृद्धि होती है उसे 'आयामिक' नामक रोग कहते हैं। श्वास, शोथ, भ्रम, मूर्च्छा, हृदय में कम्प, अग्नि की मन्दता, जलोदर, नींद का अभाव, बल तथा मांस का क्षय इन लक्षणों से तथा इनके अलावा हृद्रोग के सामान्य लक्षणों से 'आयामिक' रोग समझना चाहिये ॥ १०-११ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश -Dilatation of the Lever (डाइलेटेशन ऑफ् दी लीवर) । संस्कृत—आयामिकः (हृदयवृद्धिः) । मैथिली—करेज वृद्धि ।

अथ परिक्षयस्य निदानं लक्षणं च—

क्षयात् सञ्जायते घोरो व्याधिर्नाम्ना परिक्षयः ।
कोष्ठपेश्याः क्षयः श्वासो दौर्बल्यं सदनं भ्रमः ॥ १२ ॥
हृद्वेपथुर्वह्निमान्द्यं क्रमाच्छोफश्च जायते ।
एतैरन्यैश्च विज्ञेय-श्चिह्नैर्व्याधिः परिक्षयः ॥ १३ ॥

क्षय होने से भयङ्कर 'परिक्षय' नामक रोग होता है। जिसमें हृत्कोष्ठ के पेशीका क्षय हो जाता है। और श्वास, दुर्बलता, शरीर में अवसाद (ग्लानि), भ्रम, हृदयमें कम्प, अग्नि की मन्दता और शोथ ये सब क्रम से होते हैं। इन सब लक्षणों से तथा अन्य भी हृद्रोग के लक्षणों से 'परिक्षय' नामक व्याधि को समझना चाहिये ॥१२-१३॥

अथ मेदःसूत्रस्य निदानं लक्षणं च—

हृत्कोष्ठपेशीसूत्रेषु मेदःकणचयो गदः ।

मेदःसूत्राख्यया प्रोक्तो मुनिभिस्तत्त्ववेदिभिः ॥ १४ ॥
मन्दं मन्दं व्रजेन्नाडी भवेद्धृदयवेपथुः ।
अवसादो भ्रमो मूर्च्छा स्नायूनां बलसंक्षयः ॥ १५ ॥
हृद्वृतेर्वाऽपि सम्भेदा-न्मृत्युश्च सहसा भवेत् ।
जातमात्रश्चिकित्स्योऽयं व्याधिः परमदारुणः ॥ १६ ॥

हृत्कोष्ठ के पेशी-सूत्रोंमें मेद के छोटे २ कणों का संचय हो जाने से रोगों के निदानतत्त्व का जानने वाले आयुर्वेदज्ञ मुनियों ने उसे 'मेदःसूत्र' नामक हृद्रोग कहा है। इसमें नाड़ी मन्द २ चलने लगती है और हृदयमें कम्प होता है। एवम् अवसाद, भ्रम, मूर्च्छा, स्नायुओं के बल की क्षीणता ये सब लक्षण होते हैं। और इसमें हृदय को ढकने वाली त्वचा के अकस्मात् फट जाने (हार्टफेल हो जाने) से सहसा मृत्यु हो जाती है। अतः इस अत्यन्त भयङ्कर रोग को उत्पन्न होने के साथ ही तुरन्त चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १४-१६ ॥

विशेष भाषा-इङ्गलिश-Aortic Obstruction (एआर्टिक ऑब्स्ट्रक्शन)। संस्कृत-मेदः सूत्रम्। मैथिली-छातीक स्नेहवृद्धि।

अथ विक्षेपिकाया निदानं लक्षणं च—

हृत्कोष्ठाक्षेपको व्याधि-र्नाम्ना विक्षेपिका मता।
जातेऽस्मिन् महति व्याधौ कोष्ठदेशेऽप्युरोऽस्थ्यधः ॥ १७ ॥
सव्यांसास्थिन सव्यबाहौ ग्रीवायां पृष्ठदेशतः।
वेदना जायते तीव्रा मर्म्मप्राणप्रपीडनी ॥ १८ ॥
तोदभेदौ समाकर्षो दाहस्तत्र च जायते।
मुहुर्मुहुः श्वासरोधः शीता त्वक् स्वेदनिर्गमः ॥ १९ ॥
आध्मानानाहमोहाश्च वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः।
क्रमादिन्द्रियविध्वंसो मरणं चाप्यनात्मनः ॥ २० ॥

हृत्कोष्ठ में आक्षेप पैदा करनेवाले इसरोगको-'विक्षेपिका' कहते हैं। इस महा व्याधि के उत्पन्न होने पर कोष्ठदेश में छाती की हड्डी के नीचे, बायें कन्धे की हड्डी में, बाईं भुजा में, गर्दन में, पीठ में मर्मान्तिक कष्ट पहुचाने वाली तीव्र पीड़ा होती है। इन स्थानोंमें सूई चुभाने, टुकड़ा करने एवं खैंचने के समान पीड़ा तथा दाह होता है। बारबार श्वासका अवरोध, त्वचा में शीतलता, पसीने का निकलना, आध्मान, आनाह (अफरा), विवर्णता, कृशता, अरुचि, इन्द्रियों के शक्तिका नाश ये सब क्रमसे होते हैं। और कमजोर दिलवालों का मरण भी हो जाता है ॥१७-२०॥]

अथ हृद्रोगचिकित्सा—

घृतेन दुग्धेन गुडाम्भसा वा पिबन्ति चूर्णं ककुभत्वचो ये।
हृद्रोगजीर्णज्वररक्तपित्तं हत्वा भवेयुश्चिरजीविनस्ते ॥ ५५ ॥

जो लोग अर्जुनके छाल के चूर्णको घी, दूध अथवा गुडके पानी के साथ चाटते हैं वे लोग हृद्रोग, जीर्णज्वर और रक्तपित्तको हटाकर दीर्घायु होते हैं ॥ ५५ ॥

हरीतकी-वचा-रास्ना-पिप्पली-नागरोद्भवम्।
शठी-पुष्करमूलोत्थं चूर्णं हृद्रोगनाशनम् ॥ ५६ ॥

हरड़, वच, रास्ना, पीपल, सोंठ, कचूर और पुष्करमूल इन सबोंके चूर्ण मधु से खाने से हृद्रोग-नाशक हैं ॥ ५६ ॥

पुटदग्धं मृगशृङ्गं पिष्टं गव्येन सर्पिषा पिबतः।
हृत्पृष्ठशूलमचिरा-दुपैति शान्तिं सुकष्टमपि ॥ ५७ ॥

पुटद्वारा संपादित हिरणके सींग का भस्म गायके घी के साथ सेवन करनेसे कष्ट साध्य भी हृदयशूल और पीठ का दर्द शीघ्र आराम होता है ॥ ५७ ॥

तैलाज्यगुडविपक्वं, चूर्णं गोधूमपार्थोत्थम्।
पिबति पयोनुक् स भवति, जितसकलहृदामयः पुरुषः ॥ ५८ ॥

जो गेहूँ और अर्जुनछाल के चूर्ण को तेल, घी और गुड के साथ लेकर दूध ही खावे तो वह समस्त हृद्रोग को जीत लेता है ॥ ५८ ॥

अथ वातिकहृद्रोगे पिप्पल्यादिचूर्णम्—

पिप्पल्येला वचा हिङ्गु यवक्षारोऽथ सैन्धवम्।
सौवर्चलमथो शुण्ठी चाजमोदेति चूर्णितम् ॥ ५९ ॥
दध्ना मद्येनासवेन काञ्जिकेन घृतेन वा।
पाययेच्छुद्धदेहं हि वातिके हृदयामये ॥ ६० ॥

पीपल, छोटी इलायची, वच, हींग, यवाखार, सेंधानिमक, संचरनिमक, सोंठ और वनजमाइन इनका सूक्ष्म चूर्ण करलेने से 'पिप्पल्यादि चूर्ण' कहलाता है। इसको वायुके हृद्रोगमें दही, मद्य, आसव, कांजी या घी केसाथ सेवन करना चाहिए॥५९-६०॥

अथ पैत्तिकहृद्रोगे—

शीताः प्रदेहाः परिषेचनानि तथा विरेको हृदि पित्तदुष्टे।
द्राक्षासिताक्षौद्रपरूषकैः स्या-च्छुद्धे च पित्तापहमन्नपानम् ॥
पिष्ट्वा पिबेद्वाऽपि सिताजलेन यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणीं च ॥ ६१ ॥

पित्तज हृद्रोगमें ठंढा लेप, अभिषेक तथा विरेचन और दाख, मिश्री, मधु तथा फालसा से कै कराकर पित्तनाशक भोजन और पानी देना चाहिए अथवा मिश्री,

अथ क्रिमिजहृद्रोगस्य चिकित्सा—

क्रिमिजे च पिबेन्मूत्रं विडङ्गामयसंयुतम् ।
हृदि स्थिताः पतन्त्येव-मधस्तात्क्रिमयो नृणाम् ॥ ६८ ॥
यवान्नं वितरेच्चास्मै सविडङ्गमतः परम् ॥ ६९ ॥

क्रिमिज (कीड़े के) हृद्रोगमें वायभिरङ्गका चूर्ण गोमूत्र के साथ लेने से छाती के कीड़े, पैखाने के साथ गिर जाते हैं। बाद उस रोगी को वायभिरङ्गके साथ जौ की रोटी खिलावें ॥ ६८-६९ ॥

कासीसादिवटी—

कासीसं सैन्धवं व्योम समं खल्वे विमर्दयेत् ।
गोधूमार्ज्जुनतोयेन भावयित्वा पृथक् पृथक् ॥ ७० ॥
माषमात्रा वटीः कृत्वा यवकाथेन संयुताः ।
दद्याद्धृद्रोगिणे धीमान् स्नेहेनान्यतमेन वा ॥ ७१ ॥

कसीस, सेंधानिमक और अभ्रभस्म समान भाग लेकर खरल में अर्जुनके काथमें भावना देकर १-१ मासे की गोलियां बनाकर बुद्धिमान वैद्य हृदय रोग में जौके क्वाथ अथवा तेल या घी के साथ प्रयोग करे ॥ ७०-७१ ॥

हृदयरत्नचूर्णम्—

कासीसस्य च भागैकं पार्थस्य पञ्चधा तथा ।
श्लक्ष्णं चूर्णीकृतं दद्याद्-धृदामयनिवृत्तये ॥ ७२ ॥

१ भाग कासीस और ५ भाग अर्जुन की छाल इनका कपड़छान चूर्ण कर हृदय रोग में देना चाहिए ॥ ७२ ॥

हृदयेश्वरो रसः—

रसगन्धकलौहाभ्रं विद्रुमं मौक्तिकं तथा ।
कन्याद्रवेण संमर्द्य गुञ्जाद्वयमितां वटीम् ॥ ७३ ॥
कृत्वा संशोषयेद्राद्र-वह्नियोगं विना भिषक् ।
पार्थाम्भसा सर्पिषा च दद्याद्धृद्रोगशान्तये ॥ ७४ ॥

शुद्ध पारा तथा गंधक, लौह भस्म, अभ्रभस्म, मूंगाभस्म और मोतीभस्म समान भाग लेकर घी कुआर के रस में खरल कर दो रत्ती की गोली बनाकर छाया में सुखाकर रख लेवे। यह 'हृदयेश्वर' नामक रस होगा। इसकी १ गोली अर्जुनके क्वाथ अथवा घी के साथ खाने से हृदयरोग नष्ट होता है ॥ ७३-७४ ॥

हेमामृतरसः—

भागमेकं पारदस्य बलेर्भागद्वयं तथा ।

हेम्नः पादमितं भाग-मेकैकं तारवङ्गयोः ॥ ७५ ॥
अर्जुनस्य कषायेण संमर्द्य रक्तिकोन्मिताम् ।
वटीं कृत्वा दापयेच्च सिताऽऽज्यमधुसंयुताम् ॥ ७६ ॥
शाम्यन्त्यनेन हृद्रोगाः सर्वे एव न संशयः ॥
श्रीमद्गहननाथेन निर्मितोऽयं रसोत्तमः ॥ ७७ ॥

पारा शुद्ध १ भाग, शुद्धगंधक २ दो भाग, स्वर्णभस्म चौथाई भाग, चांदीभस्म और रांगा का भस्म १-१ भाग लेकर अर्जुन के क्वाथसे मर्दन कर १ रत्ती की गोली बनाकर मधु, मिश्री और घी के साथ एक २ गोली खाने से सब प्रकार के हृदय रोग नष्ट होते हैं। इसमें सन्देह नहीं। यह उत्तम रस श्रीमान् गहननाथ का कहा हुआ है ॥ ७५-७७ ॥

अथ रत्नाकरो रसः—

हेमहीरकवैक्रान्त-वङ्गाभ्ररसगन्धकाः ।
समभागमिता योज्याः सर्वतुल्यमयो मतम् ॥ ७८ ॥
खल्ले निक्षिप्य सर्वाणि भावयेत् ककुभाम्भसा ।
गोधूमस्य यवस्यापि क्वाथेन सप्तधा पृथक् ॥ ७९ ॥
ततः कन्याऽम्बुना प्राज्ञ-स्त्रीन् वारान् परिषेचयेत् ।
रक्तशाल्यन्तरे पिण्डं निशाः सप्त च धारयेत् ॥ ८० ॥
समुद्धृत्य वटीश्चाथ कुर्यात्स्विन्नकलायवत् ।
अर्जुनस्य कषायेण काञ्जिकेनासवेन वा ॥ ८१ ॥
गोधूमस्य यवस्यापि क्वाथेन हविषाऽपि वा ।
यथादोषानुपानैर्वा प्रदद्यात् परमौषधम् ॥ ८२ ॥
वातिकं पैत्तिकं चापि श्लैष्मिकं सान्निपातिकम् ।
क्रिमिजं हृद्रदं चापि कौष्ठिकं पृथुकं तथा ॥ ८३ ॥
तथाऽऽवरणकं घोरं गदं विक्षेपिकाऽभिधम् ।
मेदःसूत्राऽभिधं चापि परिक्षयगदं तथा ॥ ८४ ॥
आयामिकां च यक्ष्माणं वातपित्तकफामयान् ।
हन्त्ययं निखिलान् रोगान् वृत्रमिन्द्राशनिर्यथा ॥ ८५ ॥

सोनाका भस्म, हीरेका भस्म, वैक्रान्तमणिका भस्म, रांगेका भस्म, अभ्रभस्म, पारे का भस्म और शुद्ध गन्धक सब समान भाग और सबके समान लौहभस्म लेकर खरल में रख कर अर्जुनके क्वाथ में ७ भावना, गेहूँ के क्वाथमें ७ भावना और जौके क्वाथमें

७ भावना देकर पुनः घीकुआर के रस में खरलकर पिण्ड बनाकर लाल धान के ढेरीमें ७ अहोरात्र रखकर बादमें निकालकर उबाले हुए मटर के समान गोली बनाकर रख लेवे। इसकी १ गोली अर्जुनके क्वाथ से अथवा कांजीसे या आसव से या गेहूं के क्वाथ से या जौ के क्वाथ से किंवा घीसे दोषानुसार अनुपान के साथ खिलावे। यह वटी-वायुके, पित्तके, कफके, सन्निपातके कृमिजन्य हृदय के रोग को नष्ट करती है। तथा कौष्ठिक, पृथुक, आवरणिक, विक्षेपिका, मेदःमूत्र, परिक्षय और आयासिका नामक हृदयरोग, यक्ष्मा रोग, वातके रोग और कफके रोग तथा अन्य २ रोगों को इसी तरह नष्ट करती है जैसे इन्द्रका वज्र वृक्षोंको नष्ट करता है ॥ ७८-८५ ॥

अथ हृद्रोगे पथ्यानि—

पुरातनो रक्तशालि-र्जाङ्गला मृगपक्षिणः ।
कुलत्थमुद्गयूपश्च पटोलं कदलीफलम् ॥ ८६ ॥
रसालं वृद्धकूष्माण्डं दाडिमञ्च हरीतकी ।
द्राक्षा तक्रं सैन्धवञ्च हितानि हृदयामये ॥ ८७ ॥

पुराना लाल धान, जंगली मृग और पक्षी, कुलथी और मूंग के जूस, परवल, केरा, आम, पुराना श्वेत कुम्हरा, अनार, हरड़, दाख, मठा और सेंधा नमक ये हृदय रोगमें पथ्य हैं ॥ ८६-८७ ॥

अथ हृद्रोगेऽपथ्यानि—

वेगरोधो व्यवायं च व्यायामो निशि जागरः ।
सह्यविन्ध्यसमुद्भूत-सरितां सलिलं तथा ॥ ८८ ॥
मेषीपयो जलं दुष्टं गुरुतिक्ताम्लभोजनम् ।
पत्रशाकं चाध्यशनं न हितानि हृदामये ॥ ८९ ॥

पैखाना, पेशाब और अधोवायु के वेगको रोकना, स्त्रीसंग, कसरत, रातमें जागना, सह्य और विन्ध्य पहाड़से निकली नदियों का पानी, भेंड़ी का दूध, खराब पानी, गुरु पदार्थ, तीतारस और खट्टा रस, पत्तीवाला साग और अध्यशन (पेट भरे पर भोजन) ये हृदय रोगमें अपथ्य हैं ॥ ८८-८९ ॥

इति हृद्रोगाधिकारः समाप्तः ॥ २ ॥

अथोरस्तोयाधिकारः ॥ ३ ॥

तत्रोरस्तोयस्य सम्प्राप्तिः—

उरस्येकतरे पार्श्वे पार्श्वयोर्वाऽप्यपां चयः ।
उरस्तोयगदो नाम प्रायशः प्राणनाशनः ॥ ९० ॥

छाती के एक पार्श्व में अथवा दोनों पार्श्वों में पानी होजाने को 'उरस्तोय' रोग कहते हैं। यह रोग बहुधा मारनेवाला ही होता है ॥ ९० ॥

अथोरस्तोयस्य लक्षणम्—

कृच्छ्रोच्छ्वासः कफस्रावो नीलावोष्ठौ तथा मुखम् ।
शोथः पादे धरा क्षुद्रा विषमा वेगवाहिनी ॥ ९१ ॥
मूत्राल्पत्वं भवेच्चापि स ना न शयनक्षमः ।
स्वास्थ्यं किञ्चित्समासीनो लभतेऽस्मिन्महागदे ॥ ९२ ॥

उरस्तोय का रोगी दुःखसे श्वास लेता है। रोगी के मुँहसे अधिक कफ निकलता है। मुंह और ओठ काले होजाते हैं। पैरों में सूजन, नाडी दुबली और विषम वेग से चलती है और पेशाब की कमी होती है। रोगी को सोने में कष्ट होता है। और इस रोग में बैठने पर कुछ स्वस्थता प्राप्त करता है ॥ ९१-९२ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश-Plurassy प्लुरसी। मैथिली-हृदयजल। हिन्दी-छाती में पानी। यूनानी-आबे सिकिन। संस्कृत-उरस्तोय।

अथोरस्तोयस्य चिकित्सा—

भेषजं श्लेष्महरणं मूत्रस्यापि प्रवर्त्तनम् ।
उरस्तोये गदे योज्यं विविच्य भिषजा सदा ॥ ९३ ॥

उरस्तोय रोगमें कफनाशक दवा और मूत्रोत्पादक दवाका प्रयोग वैद्य विचार कर करे ॥ ९३ ॥

पिपासानिग्रहः कार्यः शीताम्भोऽनिलसेवनम् ।
यत्नतः परिहर्त्तव्य-मभिष्यन्द्यखिलं तथा ॥ ९४ ॥

उरस्तोयरोगमें प्यासको रोके, ठण्ढा पानी और ठंढी हवा को व्यवहारमें लावै, और सारे अभिष्यन्दी पदार्थों को यत्नपूर्वक छोड़ देवै ॥ ९४ ॥

पादावशिष्टं यत्तोयं तत्तृषायां पिबेन्मनाक् ।
पयसा वा शृतोष्णेन शान्तिं कुर्यात्सदा तृषः ॥ ९५ ॥

उरस्तोयरोगमें प्यास लगने पर चतुर्थांशावशेष कथित पानी पिलाना चाहिये अथवा गर्मागर्म दूध से प्यास को बुझावे ॥ ९५ ॥

वर्षाभूस्वरसं वाऽपि यवक्षारसमायुतम् ।
पिबेन्नित्यमुरस्तोयी सायं प्रातरतन्द्रितः ॥ ९६ ॥

उरस्तोयका रोगी आलस्य को छोड़कर सुबह और शाम में पुनर्नवा के रस में जवाखार मिलाकर प्रत्यह सेवन करे ॥ ९६ ॥

श्वयथौ मूत्रकृच्छ्रे च कासे श्वासे हृदामये ।
भेषजं गदितं यद्यत्-तत्तदत्र प्रयोजयेत् ॥ ९७ ॥

शोथ रोग, मूत्रकृच्छ्ररोग, खांसी, श्वास और हृदयरोग में लिखी हुई सारी दवाय इस रोगमें देवें ॥ ९७ ॥

नैवं व्याधिः शमं याया-न्निखिलैर्यदि कर्म्मभिः ।
कुर्य्याच्छस्त्रक्रियां तर्हि लघुहस्तो भिषग्वरः ॥ ९८ ॥

यदि उपर्युक्त चिकित्साओं से बीमारी शान्ति न होसके तो लघुहस्त वैद्य उर-स्तोयरोग में शस्त्रकर्म करे ॥ ९८ ॥

समुद्रवस्वोर्मध्ये वा महीध्रग्रहयोरथ ।
पर्शुकामध्योर्ग्रहदिशोः शस्त्रं नाम त्रिकूर्चकम् ॥ ९९ ॥
प्रवेश्यावहितो रक्षन् यकृत्प्लीहानमेव च ॥
निःशेषं निर्हरेदम्बु व्याधिरेवं प्रशाम्यति ॥ १०० ॥

समुद्र और वसु (७ वीं और ८ वीं) महीध्र और ग्रह (८ वी व ९ वीं) तथा ग्रह और दिक् (९ वीं और १० वीं) पर्शुकाओं (पसुलियों) के बीच में प्लीहा और यकृतकी रक्षा करते हुए 'त्रिकूर्चक'शस्त्रको घुसाकर सभी पानी को निकाल देने से उरस्तोयरोग नष्ट होता है ॥ ९९-१०० ॥

ततो व्यवायमध्वानं व्यायामं शिशिरं जलम् ।
अहःस्वापं शुचं क्रोधं त्यजेद्वर्षं गदोत्थितः ॥ १०१ ॥

इसके बाद १वर्षतक स्त्रीसंग, रास्तागमन, कसरत, ठंढा पानी , पीना, दिनमें सोना, चिन्ता और क्रोध करना न चाहिए ॥ १०१ ॥

इत्युरस्तोयाधिकारः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथौपसर्गिकोपदंशाधिकारः ॥ ४ ॥

तत्रौपसर्गिकोपदंशनिदानम्—

बहुसङ्करसेवाभ्यां संजातो जननेन्द्रिये ।
व्रणः कष्टतरो घोरो नानारोगप्रकाशकः ॥ १०२ ॥

उपदंशवाली स्त्रियों के साथ संग करने से लिङ्गमें अधिकदुःखदायक और भयानक घाव (जख्म) होता है । इससे अनेक रोग पैदा होते हैं ॥ १०२ ॥

अथौपसर्गिकोपदंशस्य नामानि—

विषोपदंशः पापोप-दंश इत्येवमीरितः ।
स एव हि बुधैः पूर्वैः कथितश्चौपसर्गिकः ॥ १०३ ॥

प्राचीन आचार्याने औपसर्गिक उपदंश को विषोपदंश और पापोपदंश नाम से कहा है ॥ १०३ ॥

अथास्य संक्रमणक्रमः—

व्याधिः संक्रामति स्त्रीतः पुंसि तस्यां ततस्तथा ।

अपत्येषु च जायेत कुलजोऽसौ सुदारुणः ॥ १०४ ॥

यह (औपसर्गिक उपदंश) स्त्रीसे पुरुषमें और पुरुषमें स्त्री में तथा इनसे संतानमें फैला उपदंश 'कुलज' कहलाता है । यह अतिकष्टप्रद होता है ॥ १०४ ॥

अथास्य भेदः—

उपदंशो द्विधा प्रोक्तो मुख्यगौणप्रभेदतः ।

इन्द्रियस्था दमो दोषो मुख्योऽन्यो दैहिकस्तथा ॥ १०५ ॥

यह उपदंश मुख्य और गौण के भेद से दो प्रकारका होताहै । लिङ्गस्थान का मुख्य और अन्य स्थान का गौण तथा दैहिक उपदंश कहलाता है ॥ १०५ ॥

अथास्य व्रणोत्पत्तिकालः—

आरभ्य च क्रियाकालं समाहत्रयमध्यतः ।

व्रणो विषोपदंशस्य जायते जननेन्द्रिये ॥ १०६ ॥

रोगी के स्त्रीसंग करने के दिन से ३ हप्ता (२१ दिन) के अन्दर लिङ्ग में विषोपदंश का घाव होता है ॥ १०६ ॥

अथास्य चिकित्सावैलक्ष्ये दोषः—

भवेद्दीर्घतरं कालं यावन्तं समतीत्य यः ।

तथा कृच्छ्रतरः स स्याद् बहुदुःखप्रदायकः ॥ १०७ ॥

औपसर्गिक उपदंश के आरंभ से जैसे २ जितने दिन कटते हैं वैसे २ यह रोग दुःखदायक और परम कष्टकर होता जाता है ॥ १०७ ॥

अथास्य व्रणभेदौ साध्यासाध्यौ च—

द्विधा पापोपदंशस्य व्रणः स्यात् कठिनो मृदुः ।

आद्यः संक्रामकः कृच्छ्रः सर्वदेहप्रतापनः ॥ १०८ ॥

अपरो न च संक्रामेत् कञ्चिद्देहं न दूषयेत् ।

एष साध्यतरः प्रोक्तो न च कष्टो यथाऽऽदिमः ॥ १०९ ॥

औपसर्गिक उपदंशका घाव कड़ा और कोमल भेद से दो प्रकार का होता है । उन में कड़ा घाव संक्रामक उपदंश कहलाता है जो कष्टसाध्य और समूचे वदन को संतापित करता है । कोमल घाव का उपदंश दूसरे के वदन में न फैलता और न अधिक कष्ट देता है । यह उपदंश (कोमल घाव का) साध्य है तथा जितना कड़ा घाव का उपदंश कष्ट देता है उतना यह (कोमल घाव का) उपदंश कष्ट नहीं देता है १०८-१०९

अथास्मिन् रोगे पिडकास्थानम्—

पुंसो मेढ्रस्य मुण्डे च चर्मण्यावरके तथा ।
भगद्वारे भगोष्ठे च जायन्ते पिडकाः स्त्रियाः ॥ ११० ॥

इस रोगमें पुरुष के लिङ्गके मुण्ड में और लिङ्गाग्रके चमड़े में तथा स्त्रियों के भगके भीतर और भगके मुंह पर पिडकायें होती हैं ॥ ११० ॥

अथ मुख्योपदंशस्य पिडकाया लक्षणम्—

समन्तात् कठिनास्तास्तु विदीर्णा रसवाहिकाः ।
दृढमूला मध्यनिम्ना ज्वरब्रध्नादिदायिकाः ॥ १११ ॥
मुख्योपदंश इत्यस्मिन् शान्तेऽपि पुनरेव हि ।
विकृतिं विविधां कुर्यात्तद्विषं देहसंस्थितम् ॥ ११२ ॥

मुख्योपदंशकी पिडका समूची कठोर, फटी और इसमें से पीप आती, मोटाजड़ और बीच में गहरी होती है । इस में ज्वर और ब्रध्न आदिक रोग होते हैं । इस उपदंश के छूटने पर भी यदि उपदंश का कुछ भी विष देह में रह जाय तो अनेक प्रकार के रोग पुनः उसके शरीर में उत्पन्न होते हैं ॥ १११-११२ ॥

अथ गौणोपदंशलक्षणम्—

त्वग्विकाराक्षिरोगौ च केशलोम्नां च संक्षयः ।
ग्रन्थिपीनसकुष्ठानि गौणोपदंशलक्षणम् ॥ ११३ ॥

चर्मरोग, नेत्ररोग, केश और नख का झरना, ग्रंथिरोग, पीनसरोग और कुष्ठरोग का होना ये गौणोपदंश के लक्षण हैं ॥ ११३ ॥

अन्यच्च—

विषं पापोपदंशस्य श्लेष्मग्रन्थिषु संसृतम् ।
ब्रध्नरोगं संजनयेत् सज्वरं बहुदुःखदम् ॥ ११४ ॥

यदि कफ की गांठों में पापोपदंशका विष फैल जाय तो ब्रध्नरोग और ज्वर परम दारुणरूपमें होता है ॥ ११४ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश—(Gonorrhea) गोनोरिया । मैथिली—सुजाक । हिन्दी-सुजाक । संस्कृत-उपदंश । यूनानी-आतशक ।

अथौपसर्गिकोपदंशचिकित्सा—

पिडकामुपदंशस्य दहेत् क्षारनिपाततः ।
व्याधिस्तेन शमं याति न कश्चिद्व्यापदोऽपराः ॥ ११५ ॥

क्षारकर्म द्वारा उपदंश की पिडका को जला देना चाहिए । इससे बिना किसी उपद्रव के बीमारी शान्त हो जाती है ॥ ११५ ॥

कर्षं शोधितसूतस्य कठिन्यास्तद्द्वयं तथा।
यत्नतो मर्दयेत्तावद् यावत्सूतो न दृश्यते ॥ ११६ ॥

शुद्ध पारा एक कर्ष और श्वेत खड़ी २ कर्ष, दोनों को खरल में रख कर तबतक मर्दन करे जबतक पारा न दिखलाई देवे ॥ ११६ ॥

अस्य गुञ्जाद्वयं खादेन् प्रत्यहं त्रिःपुटस्थितम्।
दन्तवेष्टव्यथायां च लालास्रावे च तत्त्यजेत् ॥ ११७ ॥

उपर्युक्त दवामें से दो रत्ती प्रमाण लेकर दोनो शाम खावे। इससे उपदंशरोग नष्ट होता है। दांत के मसूड़े में दर्द होनेपर और लार चूने पर दवा को छोड़ देना चाहिए ॥ ११७ ॥

रसचूर्णस्य कर्पूर-रसस्यापि निषेवणात्।
अनेन विधिनैवास्य गदो घोरः प्रशाम्यति ॥ ११८ ॥

रसचूर्ण (पिछले श्लोकोक्त) और कर्पूर रस का सेवन करे इस क्रिया से भयानक औपसर्गिकोपदंशरोग नष्ट होता है ॥ ११८ ॥

पलार्धप्रमितं चूर्णं तोये पञ्चशरावके।
क्षिप्त्वा विलाड्य सम्यक् च चतुर्यामास्ततः परम् ॥ ११९ ॥
स्वच्छांशमूर्ध्वगञ्चास्य गृह्णीयादतियत्नतः।
इदं चूर्णोदकं चाम्ल-नाशनं व्रणमेहनुत् ॥ १२० ॥

५ शराव पानी में आधा पल चूना को घोलकर ४ पहर छोड़ देवे बाद में उसके ऊपर का स्वच्छ पानी लेलेवे। यह चूर्णोदक अम्लरोग और व्रणमेहनाशक है ११९-१२०

द्विपले चूर्णतोयेऽस्मिन् रसचूर्णस्य माषकम्।
क्षिप्त्वा सम्मिश्रयेत्तावद् यावत् कृष्णप्रभं जलम् ॥ १२१ ॥
कृष्णद्रवेण चानेन क्षालनं व्रणमेहहृत्।
उपदंशे विशेषेण शस्तमेतन्महौषधम् ॥ १२२ ॥

उपर्युक्त चूर्णोदक में पूर्वकथित १ मासा रस चूर्ण डालकर मिलावे, पानी काला सा हो जाने पर 'कृष्णद्रव' कहलाता है। इससे धोने से व्रणमेह नष्ट होता है और यह दवा उपदंश रोगमें अधिक प्रशस्त है ॥ १२१-१२२ ॥

सार्द्धद्विपलमानेऽस्मिन्-निक्षिपेन्नवरक्तिकम्।
कर्पूररसमेतेन कृत्वा पीतद्रवौषधम् ॥ १२३ ॥
व्रणं पापोपदंशस्य क्षालयेत्तेन वारिणा।
एतच्च परमं प्रोक्तमौषधं विबुधैरिह ॥ १२४ ॥

पूर्वोक्त कृष्णजल में ९ रत्ती रस कपूर को घोल कर पानी को पीला बनादेवे। इस

पानी से पापोपदंश के जख्म को धोदेवे। यह उसकी उत्तम दवा है, ऐसा वैद्योंने कहा है ॥ १२३-१२४ ॥

विद्रधौ या क्रिया प्रोक्ता ब्रध्नरोगेऽपि सा हिता।
गौणोपदंशे विषमे पित्तघ्नं चास्त्रशोधनम्।
सरं भेषजमन्नं च पानञ्चापि विनिर्दिशेत् ॥ १२५ ॥

विद्रधि अधिकारोक्त दवा को ब्रध्न (बाघी) रोग में देवे। गौणोपदंश और विषम ज्वर में पित्तनाशक, खूनसफा और दस्तावर दवा, अन्न और पानी देना चाहिए ॥ १२५ ॥

अथानन्ताऽऽद्यघृतम्—

अनन्ताऽऽमलकीद्राक्षाः काकोलीयुगलं वरीम्।
एलाद्वयं विदारीञ्च मधूकं मधुकं मुराम् ॥ १२६ ॥
त्रिफलां स्वर्णपर्णीञ्च बीजं गोक्षुरसम्भवम्।
दशमूलं तालमूलीं त्रिवृतामिन्द्रवारुणीम् ॥ १२७ ॥
नीलिनीं शूकशिम्ब्याश्च बीजं कर्षप्रमाणतः।
कल्कीकृत्य पचेत्प्रस्थे सर्पिषः शारिवाऽम्भसा ॥ १२८ ॥
घृतमेतदनन्ताऽऽद्य-मुपदंशविनाशनम्।
रसायनं परं वृष्य-मस्रदोषनिसूदनम् ॥ १२९ ॥
भेषजं कुष्ठशमनं वातरक्तहरं तथा।
गौणे मुख्ये च संयोज्य-मुपदंशे यथायथम् ॥ १३० ॥

अनन्तमूल, आंवरा, दाख, काकोली, क्षीरकाकोली, शतावरी, दोनो इलाइची, विदारीकन्द, महुएका छाल, जेठीमधु, एकाङ्गीमुरा, त्रिफला, सनायपत्ती, गोखुरुबीज, दशमूल, तालमूली, निसोथ, इनारुन का फल, लील और कवाछके बीज एक २ कर्ष लेकर, कल्क बनाकर १ प्रस्थ घी में ४ प्रस्थ अनन्तमूल का क्वाथ डालकर पकावे, सिद्ध हो जाने पर घी को रख लेवे। यह अनन्तादि नामक घी-रसायन, धातूत्पादक और रक्त दोष नाशक है। एवं कुष्ठनाशक और वातरक्त नाशक है। इस घी को गौणोपदंश और मुख्योपदंश में यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए ॥ १२६-१३० ॥

अथोपदंशेऽपथ्यम्—

पापप्रमेही वातास्री कुष्ठी पापोपदंशवान्।
न भजेदङ्गनां नापि तद्वदिन्यङ्गना नरम् ॥ १३१ ॥

पापप्रमेहवाला, वातरक्तवाला, कुष्ठवाला और पापोपदंशवाला रोगी स्त्रीप्रसङ्ग न करे, एवं उक्त रोगों से युक्त स्त्री पुरुष के पास न जाए ॥ १३१ ॥

दिवा निद्रां च गुर्वन्नं वेगसंधारणं गुडम् ।
मद्यमायासमम्लं च वर्ज्जयेदुपदंशवान् ॥ १३२ ॥

उपदंशका रोगी दिन में सोना, भारी भोजन, वेगों का रोकना, मीठा, मद्य, मिहनत और खट्टारस इनको छोड़ देवें ॥ १३२ ॥

अथोपदंशे पथ्यम्—

रक्तशालिं तिक्तवर्गं घृतं शिग्रुफलं तथा ।
पटोलं च यवं मुद्गं निषेवेतोपदंशवान् ॥ १३३ ॥

उपदंश का रोगी लाल धान, तीतवर्ग, घी, सहिजन को फली, परोरा और मूंग इन्हें खावें ॥ १३३ ॥

इत्यौपसर्गिकोपदंशाधिकारः समाप्तः ॥ ४ ॥

अथागन्तुकपक्षाघाताधिकारः ॥ ५ ॥

तत्रागन्तुकपक्षाघातनिदानम्—

अथ पक्षाघातस्य भेदौ—

पक्षाघातो द्विधा ज्ञेयो दोषागन्तुजभेदतः ।
दोषजः कथितः पूर्व-मधुनाऽऽगन्तुजं शृणु ॥ १३४ ॥
आगन्तुजोऽपि द्विविधः पक्षाघातः प्रकीर्त्यते ।
आद्यः पारदसंभूतो द्वितीयो नागजः स्मृतः ॥ १३५ ॥

दोषज (वात, पित्त और कफ से उत्पन्न) और आगन्तुज के भेद से दो प्रकार का पक्षाघात रोग होता है। इनमें दोषज पक्षाघात को पहले ही कह चुका हूँ। सम्प्रति आगन्तुज पक्षाघात का लक्षण सुनो—आगन्तुजपक्षाघात दो प्रकार का होता है, इनमें पहला (आगन्तुज पक्षाघात) पारा से और दूसरा सीसा से होता है ॥ १३४-१३५ ॥

अथ पारदजपक्षाघातनिदानम्—

रससंस्पर्शसातत्यात् तद्धूमस्य च सेवनात् ।
पक्षाघातो भवेद्यस्तु स ज्ञेयः पारदोद्भवः ॥ १३६ ॥

पारा को बराबर छूने से और पारे का धूआं के सेवन से जो पक्षाघात होता है है उसे पारा का पक्षाघात कहते हैं ॥ १३६ ॥

अथ पारदजपक्षाघातस्य लक्षणम्—

आदौ बाह्वोर्बलध्वंस-स्ततः कम्पः प्रजायते ।
वेपते सक्थिनी चापि कायः सर्वस्ततः परम् ॥ १३७ ॥
गदी चलति नृत्यन् वै दृढं द्रव्यं न धारयेत् ।

स्पष्टं प्रभाषितुं चापि चर्वितुं च न च क्षमः ॥ १३८ ॥
ततस्तस्यातिनिद्रा च प्रलापो बलसंक्षयः ।
हृल्लासो वह्निनाशश्च दन्तध्वंसः क्वचित्स्रुतिः ॥ १३९ ॥
शान्तिर्भवति कम्पस्य विधृतेऽङ्गे रसामये ।
नागाऽऽमयस्य लिङ्गानि शृणुतातः समासतः ॥ १४० ॥

पारा के पक्षाघात में प्रथम दोनों हाथों की शक्ति हट जाती है, उसके पीछे शरीर कांपता है, बाद दोनों जांघों में कंप होता है, उसके बाद सारा शरीर कांपता है। इस का रोगी नाचते हुए के सदृश चलता है एवम् दृढ़ता के साथ किसी भी पदार्थ को उठा नहीं सकता, तथा साफ २ न बोल सकता है और न चबा ही सकता है। इसके बाद रोगी को अधिक नींद आती है, एवम् प्रलाप (अकबकवात), बल की कमी, जीमिचलाहट, मन्दाग्नि, दांत का गिरना और लार का चूना यह सब होता है। रस (पारा) से उत्पन्न पक्षाघात के रोगी का कांपते हुए शरीर को पकड़ लेने पर कम्प की शान्ति हो जाती है। इसके आगे नागजपक्षाघात का संक्षेप से लक्षण कहता हूँ सुनो ॥ १३७-१४० ॥

अथाऽऽगन्तुजपक्षाघातचिकित्सा—

मुख्यं चिकित्सितं चास्य निदानपरिवर्जनम् ।
निदानसेविनो व्याधि-र्नौषधाद् विनिवर्त्तते ॥ १४१ ॥

निदान (रोगोत्पादक पदार्थ) का छोड़ना आगन्तुकपक्षाघात की मुख्य दवा है। और निदान का सेवन करते हुए रोगी की बीमारी नहीं हटती है ॥ १४१ ॥

स्वेदसंजननं सर्वं मूत्रकृच्च विरेचनम् ।
रक्तदोषहरं चात्र शर्म्मदं भेषजं मतम् ॥ १४२ ॥

पसीना उत्पादक, पेशाबकारक, दस्तावर और खून तथा दोष (वात, पित्त और कफ) नाशक सारी क्रियायें आगन्तुजपक्षाघात रोग में कल्याणकारक है ॥ १४२ ॥

गन्धकं परमं प्राहु-र्भेषजं पारदामये ।
नेपालनिम्बतोयेन सेव्यो लौहोऽस्य शान्तये ॥ १४३ ॥

पारा के पक्षाघात रोग की गन्धक ही विशेष दवा है। ऐसा मुनियों ने कहा है। अथवा उक्त रोग के विनाशार्थ नेपाली नीम (बकायन) के स्वरस के साथ लौह भस्म का सेवन करे ॥ १४३ ॥

अथ नागजपक्षाघातस्य निदानम्—

चित्रकृत्प्रमुखा ये हि नागैः कर्म प्रकुर्वते ।
ये वा व्यवहरन्त्यस्य पात्रं तेषां ततो गदः ॥ १४४ ॥

चित्रकार (मूर्त्ति बनाने वाले) आदिक जो सीसा से चित्र बनाते हैं अथवा जो सीसे का वर्त्तन अपने इस्तेमाल में लाते हैं उनको नागजपक्षावात की बीमारी होती है ॥ १४४ ॥

अथ नागजपक्षावातस्य लक्षणम्—

अङ्गुलीतः समारभ्य मणिबन्धं ततोऽखिलम् ।
व्याधिर्व्याप्नोति दौर्बल्यं तत्रैकं लक्षणं महत् ॥ १४५ ॥
अंसे प्रकोष्ठे तोदश्च बाह्वोश्च परिशीर्णता ।
नीलिमा दन्तवेष्टे च शूलं चिह्नानि चास्य वै ॥ १४६ ॥

सीसे के पक्षावात में अंगुली से लेकर गट्टा तक रोग व्याप्त हो जाता है । उक्त स्थान जकड़ जाता है । और इसमें विशेष लक्षण यह होता है कि शरीर में दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है और दोनों कंधे एवम् गट्टे में दर्द, बांहों में ढीलापन, मसूड़ों में कालापन और बदन में दर्द होता है ॥ १४५-१४६ ॥

अथ नागजपक्षाघातचिकित्सा—

स्वेदनं भेदनं चापि कुष्ठघ्नं यच्च भेषजम् ।
तत्सर्वमिह संसेव्यं कृत्वा हेतुविवर्ज्जनम् ॥ १४७ ॥

पसीनाकारक, दस्तावर और कुष्ठरोग नाशक सारी क्रिया नागजपक्षावात की दवा है । अतः उक्तरोगोत्पादक पदार्थों को छोड़कर इन्हें सेवन करना चाहिए ॥१४७॥

इत्यागन्तुकपक्षावाताधिकारः समाप्तः ॥ ५ ॥

अथ गदोद्वेगाधिकारः ॥ ६ ॥

अथापदार्थगदापराभिधगदोद्वेगनिदानम्—

अथ गदोद्वेगस्य स्वरूपम्—

बिना व्याधिं व्याधिशङ्का गदोद्वेग इतीरितः ।
पदार्थत्वाभाववत्वा-दपदार्थगदश्च सः ॥ १४८ ॥

बीमारी के न रहने पर भी बीमारी की शङ्का करने को गदोद्वेग रोग कहते हैं । इस रोग में किसी भी वस्तु के न रहने के कारण इसे 'अपदार्थगद' नामक रोग भी कहते हैं ॥ १४८ ॥

अथापदार्थगदस्य निदानम्—

कायेन मनसा भूयाच्छ्रमः शोको बलक्षयः ।
नैराश्यं मानहानिश्च गदोद्वेगो महाभयम् ॥ १४९ ॥
दुरदृष्टं बीजदोषः सत्त्वस्याभाव एव च ।
अपदार्थगदस्यैते हेतवः कथिता बुधैः ॥ १५० ॥

शारीरिक अथवा मानसिक अधिक मेहनत करने से, शोक करने से, ताकत की कमी होने से, किसी वस्तु के सम्बन्ध में आशा टूटने से, मान की हानि होने से, अधिक डरने से, दैवी कुदृष्टि से, मातापिताओं के वीर्य के दोष से और मस्तिष्क की कमी से गदोद्वेग की बीमारी होती है। अतः वैद्यों ने इतने अपदार्थ गद रोग के कारण कहे हैं ॥ १४९-१५० ॥

अथ गदोद्वेगस्य लक्षणम्—

अद्भुतस्य गदस्यास्य लक्षणान्यद्भुतानि च।
कोऽप्येवं मन्यते नून-मुदरं भुजगोऽविशत् ॥ १५१ ॥
कोष्ठे भ्रमत्यसौ नित्यं भुङ्क्ते यद् भुज्यते मया।
निर्यास्यति पथा केन केनोपायेन नङ्क्ष्यति ॥ १५२ ॥
किं विधास्यति नो जाने दश्ये वाऽहं दुरात्मना।
कोऽपिवा मनुते भेको ममैको मूर्ध्नि संस्थितः ॥ १५३ ॥
विघट्टयति मस्तिष्कं मारयिष्यति मां ध्रुवम्।
कोऽपीत्थं चिन्तयेच्चित्रं कायः काचमयो मम ॥ १५४ ॥
सञ्जातोऽयमतो रक्ष्यः सदाऽऽघाताऽत्प्रयत्नतः।
इत्येवं बहुरूपाभि-र्व्यर्थचिन्ताभिराकुलः ॥ १५५ ॥
अपदार्थगदी शुष्येत् सदा भीतः सदाऽसुखी।
बहुधा बोधितोऽप्येष सान्त्वितोऽपि पुनः पुनः ॥ १५६ ॥
चित्ताद् भ्रमं न शक्नोति दूरीकर्तुं न साध्वसम्।
यश्चास्य कथयेद् भ्रान्तिं तस्मै द्रुह्यति नित्यशः ॥ १५७ ॥
प्रीयते च गदोद्वेगी व्याधेः सत्यत्ववादिनि।
गदोद्वेगवता (१)कोष्ठ-स्थः कश्चिदनुभूयते ॥ १५८ ॥
सुतीव्रा वेदना प्रायः पाककोष्ठे विशेषतः।
जिह्वा स्यात्कफलिप्ताऽस्य पूतिः श्वासो निरेति च ॥ १५९ ॥
उत्क्लेशश्च तथा वान्ति-रित्थं च जीर्णलक्षणम्।
प्राखर्यं स्पर्शशक्तेश्च पाण्डुत्वमुदरामयः ॥ १६० ॥
हृदि सांघातिको व्याधिः केन वाऽप्यनुभूयते।
गदोद्वेगवताऽन्येन पुरुषत्वस्य संक्षयः ॥ १६१ ॥
ज्वरः सततकोऽन्येन दुष्प्रतीकार्य एव च।

(१) कोष्ठे कस्मिश्चिदिति पाठः प्रामादिकः।

किमाश्चर्यं वेदनाद्यं जायते च तदा तदा ॥ १६२ ॥
इत्थं बहुविधाऽऽकारा व्याधयः कल्पनाकृताः ।
असद्रूपाः प्रजायन्ते निःसत्त्वानाममेधसाम् ॥ १६३ ॥
शक्यन्ते व्याधयो वक्तुं नैते निरवशेषतः ।
बुद्धिमद्भिर्विज्ञेया यथास्वं दोषलक्ष्म च ॥ १६४ ॥

आश्चर्यजनक इस (गदोद्वेग) रोग का लक्षण भी आश्चर्यजनक ही होता है। कितने मानते हैं कि मेरे पेट में सर्प घुस गया है और मैं जो कुछ खाता हूँ उसे सर्प ही खाता है। यह पेटका सर्प किस रास्ते से निकलेगा, कैसे मरेगा या मुझे क्या करेगा मैं इस दुष्ट (सर्प) से अवश्य काटा जाऊँगा। कितने समझते हैं कि मेरे माथे में एक कोई मेढक (बेंग) पैठ गया है और वही मेरे दिमाग को टक्कर मारता है तथा निश्चय वह मुझ को मारडालेगा। और कितने इस प्रकार से विचित्र चिन्ता करते हैं कि मेरा समूचा शरीर ही काच (सीसा) का हो गया है इसको धक्का आदिक चोट से बचाकर रखना चाहिए। यों अनेक प्रकार की बेकार चिन्ता से व्याकुल, सर्वदा डरता और सर्वदा दुःखी होता अपदार्थ गद का रोगी सूख जाता है। अनेक तरह से समझाने बुझाने पर भी वह अपने मन से सन्देह तथा भ्रम को नहीं हटाने में समर्थ होता है। जो कोई उससे यह कहता है कि तुम्हारा यह भ्रम है उसके साथ रोगी पूरा द्रोह करता है। और जो बीमारी की सत्यता बतलाने वाले हैं उनके ऊपर प्रसन्न होता है। गदोद्वेग का रोगी अपने पक्वाशय में किसी चीज को बैठा हुआ मानता है। इसके रोगी को आमाशय में अधिक दर्द, जीभ में लभरा कफ और श्वास में बदबू रहती है। पुराने गदोद्वेग में जी का मिचलाना, क्षय, स्पर्श-शक्ति की तीक्ष्णता, पाण्डुरोग और उदर रोग होता है। कोई गदोद्वेग रोगी हृदय में सांघातिक व्याधि का अनुभव करता है और कोई इस रोग में नामर्दी का अनुभव करता है तथा इस रोग में कोई कठिनाई से जाने वाला सततक नामक ज्वर का अनुभव करता है। और इसमें बार बार कम्प आदिक उपद्रव होता है। यह आश्चर्य नहीं। यों अनेक प्रकार की कल्पना से उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की व्याधियां शक्ति और मेधा शक्ति से हीन लोगों को उत्पन्न होती हैं। यह रोग निःशेष लक्षणों से नहीं कहा जा सकता है किन्तु बुद्धिमान वैद्य इसमें दोष (वात, पित्त और कफ) एवम् उनके लक्षणों को अपनी बुद्धि से पहचाने ॥ १५१-१६४ ॥

अथ गदोद्वेगरोगस्य वयः प्रमाणम्—

प्रायशः षोडशादर्वाङ् न च पञ्चाशतः परम् ।
व्याधिरेषः प्रदृश्येत हेतुस्तत्र मनोगतिः ॥ १६५ ॥

यह गदोद्वेग रोग अधिकतर १६ वर्ष के पहले और ५० वर्ष के बाद नहीं होता है और इसका चित्तवृत्ति ही निदान होता है ॥ १६५ ॥

अथ स्त्रीणां गदोद्वेगाभावे हेतुः—

मासि मासि रजःस्रावात् सर्वे शुध्यन्ति धातवः ।
अतः स्नायुगदः स्त्रीणां-स्तेष प्रायो न जायते ॥ १६६ ॥

प्रत्येक मासमें रजका निःसरण होने से प्रायः स्त्रियों को यह स्नायुसंबन्धी गदोद्वेगरोग नहीं होता है ॥ १६६ ॥

विशेषभाषा—इङ्गलिश । (Ahoplupsy) एपोपलेसी । मैथिली—व्याधिशङ्का । हिन्दी—बीमारी का सन्देह । संस्कृत—गदोद्वेगः । यूनानी—नफ्सा ।

तत्र गदोद्वेगस्य चिकित्सा—

सान्त्वनाऽऽश्वासन-स्नेहहर्षणैः परिचर्यया ।
अपदार्थगदाऽऽक्रान्तं चिकित्सेत्तर्पणेन च ॥ १६७ ॥

सान्त्वन, आश्वासन, स्नेहन, हर्षण और तर्पण क्रिया द्वारा अपदार्थगदके रोगी की चिकित्सा होनी चाहिए ॥ १६७ ॥

पाचनं वह्निकृद्यच्च यद्वातस्यानुलोमनम् ।
पित्तकृन्नातिकफकृ-त्तद्युञ्ज्यादत्र भेषजम् ॥ १६८ ॥

जो पदार्थ अग्निकारक और पाचन हैं तथा वात का अनुलोमन कारक भी है और जो द्रव्य पित्तकारक हो और अत्यन्त कफकारक न होवे उस पदार्थ का गदोद्वेग रोग की दवा के निमित्त प्रयोग करना चाहिए ॥ १६८ ॥

वातव्याध्युदितान्यत्र तैलानि च घृतानि च ।
युक्त्या युञ्ज्याद्भिषक् प्राज्ञो भेषजं च रसायनम् ॥ १६९ ॥

इस गदोद्वेग रोग में वातव्याधिके अधिकार में कथित तैल, घी, दवा और रसायन का वैद्य प्रयोग करे ॥ १६९ ॥

गदो मिथ्येति न वदेद् भिषगस्य कदाचन ।
स यद् ब्रवीति वृत्तान्तं तं शृणुयादवधानवान् ॥ १७० ॥

वैद्य इस रोग को मिथ्या रोग न कहे । वह रोगी जो कुछ बोले उसे स्थिरता से सुना करे ॥ १७० ॥

हृद्यं स्निग्धं च पानान्नं सुपाच्यं देहपोषणम् ।
अपदार्थगदे प्रोक्तं शुभायान्यन्न शर्म्मणे ॥ १७१ ॥

अपदार्थरोग में हृदयके हितकारी, स्निग्ध और शरीर के पुष्टकारक अन्न तथा पान पथ्य कहा गया है । इन से भिन्न भोजन तथा पान इसमें अपथ्य है ॥ १७१ ॥

इति गदोद्वेगाधिकारः समाप्तः ॥ ६ ॥

अथ शैशवसंन्यासाधिकारः ॥७॥

अथ शैशवसंन्यासस्य निदानम्—

दुष्टस्तन्यस्य पानाच्च सदा शीतगृहे स्थितेः ।
वातातपविहीने वा दुष्टानिलविदूषिते ॥ १७२ ॥
पानाशनविहारैश्च दोषलैर्बहुभिः शिशुः ।
संन्यासाख्येन रोगेण पीड्यते क्रिमिभिस्तथा ॥ १७३ ॥

खराब दूध के पीने से, ठंढे घरमें रहने से, जिस घरमें हवा और धूप न जाता हो तथा जिस घरमें खराब हवा हो उन घरोंमें रहने से और दोषयुक्त अन्न-पान और विहार का सेवन करने से बच्चों को संन्यास रोग और पेटमें कीरे होते हैं। इसे 'शैशव संन्यास' कहते हैं ॥१७२-१७३॥

अथ शैशवसंन्यासस्य लक्षणम्—

उत्तारनयनः स स्या-दाक्षिप्ताङ्गस्त्वसंज्ञकः ।
दारुवत्पतितो भूमौ दृढकायो मृतोपमः ॥ १७४ ॥
नाम्ना शैशवसंन्यासो गदोऽयं शिशुपीडनः ।
क्रिया सद्यःफला चात्र रेचनं च हितं मतम् ॥ १७५ ॥

शैशवसंन्यास से ग्रसित बच्चा आंखों को तरेरे हुये, हाथ-पावों को फेंकता हुआ, अन्तमें निश्चेष्ट होकर लकड़ी के समान लम्बायमान होकर मृतकसा सो जाता है। यह बच्चों को दुःखदायक शैशवसंन्यास नाम का रोग होता है। इसमें शीघ्र फल देने वाली चिकित्सा और जुलाब देना हितकर माना गया है ॥ १७४-१७५ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश—(Canvookcun) कैनसौकून। मैथिली—बालमूर्च्छा। हिन्दी-बालमृगी। संस्कृत-शैशवसंन्यास।

अथ शैशवसंन्यासस्य चिकित्सा—

व्याधौ शैशवसंन्यासे निदानानां निराकृतौ ।
विदध्यात् सर्वथा यत्नं कर्म्मदोषहरं तथा ॥ १७६ ॥

शैशवसंन्यास रोगमें निदान (दुष्ट दूध आदि) दूर करने में यत्न तथा दोषों को दूर करने वाली क्रियायें सर्वथा करनी चाहिए ॥ १७६ ॥

कुर्य्याच्च रुबुतैलेन रसचूर्णेन वा पुनः ।
रेचनं शिशुसंन्यासे स्वेदस्तत्रोदरे हितः ॥ १७७ ॥

अंडीके तेल द्वारा अथवा रसचूर्ण (औपसर्गिकोपदंशाधिकारोक्त) द्वारा शैशव-संन्यास रोग में दस्त करा कर रोगी के पेट पर स्वेद लाने वाली क्रिया करनी चाहिए ॥

आरोगिण्याः शिशुं धात्र्याः स्तन्यं शुद्धं प्रपाययेत् ।

स्तन्यस्य शोधनं वाऽपि कुर्य्याद्यस्याः पिबेत् स तत् ॥ १७८ ॥

रोगमुक्त धाईका शुद्ध दूध शैशवसंन्यासयुक्त बालक को पिलाना चाहिए । अथ-वा लड़का जिस धाईका दूध पीता हो उसके दूधका शोधन कराना चाहिए ॥ १७८ ॥

क्रिमिजे शिशुसंन्यासे क्रिमीणां हरणं हितम् ।
कृष्णामधुयुतं सूतं मूर्च्छायां प्राशयेद्भिषक् ॥ १७९ ॥

कीड़े के शैशव संन्यास रोग में कीड़े की दवा होनी चाहिए तथा वैद्य उक्त-रोगमें पीपल के चूर्ण और मधु के साथ पारा का भस्म खिलावे ॥ १७९ ॥

ताम्रचूर्णं समोशीरं केशरं शीतवारिणा ।
पीतं मूर्च्छां द्रुतं हन्याद् वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा ॥ १८० ॥

तामे का भस्म, खस और केशर का चूर्ण समान भाग लेकर ठंढे पानी के साथ पीने से शीघ्र मूर्च्छा नष्ट होती है जैसे इन्द्र का वज्र वृक्षों को नष्ट करता है ॥ १८० ॥

शुण्ठी कृष्णा शताह्वा च साभया गुडसंयुता ।
प्राशिता नाशयत्याशु भ्रमरोगं सुदारुणम् ॥ १८१ ॥

सोंठ, पीपल, सौंफ और हर्रे का समान भाग चूर्ण को गुड़ के साथ खाने से अत्यन्त कष्टदायक भ्रम रोग नष्ट हो जाता है ॥ १८१ ॥

ताम्रं दुरालभाकाथैः पीतन्तु घृतसंयुतम् ।
निवारयेद्भ्रमं शीघ्रं संशयोऽत्र न विद्यते ॥ १८२ ॥

घी के साथ तामे का भस्म खाकर धमासा के क्वाथ का अनुपान लेने से शीघ्र भ्रम को नष्ट करता है इसमें सन्देह नहीं ॥ १८२ ॥

सैन्धवं श्वेतमरिचं सर्षपाः कुष्ठमेव च ।
वस्तमूत्रेण सम्पिष्टं नस्यं तन्द्रानिवारणम् ॥ १८३ ॥

सेंधानिमक, श्वेतमरिच (सहिजन का बीज), सरसो और कूठ का समान भाग लेकर बकरी के मूत्र में पीसकर नास लेने से तन्द्रा नष्ट होती है ॥ १८३ ॥

शिरीषबीजं लशुनं पिप्पलीं लवणोत्तमम् ।
मनःशिलां च मधुना श्लक्ष्णं यत्नेन मर्दयेत् ॥ १८४ ॥
तस्याञ्जनेन तन्द्राऽऽशु सनिद्रा विनिवर्त्तते ।
तन्द्रिणं सुखशय्यायां प्रकामं स्वापयेद्भिषक् ॥ १८५ ॥

सिरिषकाबीज, लहसुन, पीपल, सेन्धानिमक और मैनशिल इनका समान भाग लेकर मधु के साथ बारीक पीसकर आंखों में अञ्जन करने से निद्रा और तन्द्रा शीघ्र नष्ट होती है तथा वैद्य को चाहिए कि तन्द्रा के रोगी को सुन्दर बिस्तरे पर यथेच्छ सुलावे ॥ १८४-१८५ ॥

अथ पथ्यम्—

यवो लोहितशालिश्च वार्त्ताकुश्च पटोलकम् ।
यूषो जाङ्गलमांसस्य रोहिताद्यास्तथा झषाः ।। १८६ ।।
धारोष्णं गोपयस्तक्रं स्नानं नद्या जलेऽमले ।
हितान्येतानि मूर्च्छायां संन्यासाख्ये तथा गदे ।। १८७ ।।

जौ, लालधान, भंटा, परवल, जंगली जानवरों का मांसरस, रोहू आदिक मछली, गायका धारोष्ण दूध, मठा और नदी के स्वच्छ जल में स्नान ये मूर्च्छा और संन्यास रोग में पथ्य होते हैं ।। १८६–१८७ ।।

अथापथ्यम्—

तीक्ष्णं द्रव्यं क्रिया तीक्ष्णा वेगानां च विधारणम् ।
क्रोधशोकाद्यभिभव इत्येतैर्वर्द्धते गदः ।। १८८ ।।

तीक्ष्ण पदार्थ, तीक्ष्ण क्रिया, पैखाने आदिक वेगों का रोकना और क्रोध तथा शोक का दुःख इन से शैशवसंन्यास रोग की वृद्धि होती है ।। १८८ ।।

इति शैशवसंन्यासरोगाधिकारः समाप्तः ।। ७ ।।

अथ योषाऽपस्माररोगाधिकारः ।। ८ ।।

अथ योषाऽपस्मारस्य निदानम्—

शोणितस्य क्षयाद्वाऽपि तथाऽऽधिक्यादजीर्णतः ।
कोष्ठरोधान्मनोभङ्गा-दत्युद्वेगाच्च शोकतः ।। १८९ ।।
रजोऽभावाच्च योषाणां जरायुविकृतेस्तथा ।
अशक्तेरपि नैष्ठुर्यात् पत्युरस्नेहतस्तथा ।। १९० ।।
वैधव्यजन्यादाधेश्च योषाऽपस्मारसंज्ञकः ।
गदः संजायते कृच्छ्रो मनोदेहप्रतापनः ।। १९१ ।।

खून के घटजाने और अधिक बढ़जाने से, अजीर्णसे, कोष्ठ के रुकने से, मन का भङ्ग हो जाने से, उद्वेग से, शोकसे, स्त्रियों के रजका अभाव होने से और जरायु में विकार होने से, ताकत की कमी होने से, कठोर हृदय करने से, स्वामी से अनादर पाने से, विधवा होने से, क्लेश करने और मानसिक दुःख करने से 'योषापस्मार' रोग होता है। वह रोग कष्टसाध्य, मन और शरीर को अधिक दुःखदायी होता है ८९-९१

अथास्य नामकरणे कारणम्—

योषितामेव बाहुल्याद्यत एव भवेद्गदः ।

(१)अपस्मारप्रकृतिक-स्तेनास्यैषाऽभिधा मता ॥ १९२ ॥

जिस लिए यह मृगी का रोग अधिकतर स्त्रियों को ही होता है अतः इसका नाम योषाऽपस्मार रक्खा गया है ॥ १९२ ॥

अथास्य कालमाह—

कालोऽस्य यौवनं व्याधे-र्नार्वाग्द्वादशवर्षतः ।
परं पञ्चाशतो वाऽपि व्याधिरेषः प्रजायते ॥ १९३ ॥

योषापस्मार रोग जवानी में ही होता है । १२ वर्ष के पहले और ५० वर्ष के बाद नहीं होता है ॥ १९३ ॥

अथास्य पूर्वरूपम्—

हृद्रुजा जृम्भणं सादो वर्ष्मणो मनसोऽपि च ।
भवेद्भविष्यति गदे योषाऽपस्मारसंज्ञके ॥ १९४ ॥

जब योषापस्मार रोग होने को होता है तब पहले हृदय में पीड़ा, जंभाई एवम् शरीर और मन की अवसन्नता होती है ॥ १९४ ॥

अथ योषाऽपस्मारस्य लक्षणम्—

वैचित्त्यं बुद्धिविभ्रान्ति-र्हास्यं क्रन्दनमेव च ।
उच्चैः क्रोशः प्रलपनं ज्योतिर्द्वेषस्तथा भ्रमः ॥ १९५ ॥
औद्धत्यं श्वासकृच्छ्रञ्च कण्ठामाशयवेदना ।
प्राबल्यं स्पर्शशक्तेश्च क्वचिदङ्गे सदा व्यथा ॥ १९६ ॥
अलीकवर्त्तुलोत्थान-माकण्ठमुदरादपि ।
सदल्पबुद्धिर्मूर्च्छा च व्याधावस्मिन् प्रजायते ॥ १९७ ॥

योषापस्मार रोगमें मन और बुद्धि का भ्रम, बराबर हंसना, रोना, जोरसे बोलना, प्रलाप, रोशनी से द्वेष, भ्रान्ति, उद्धतपना, सांसमें तकलीफ, कण्ठ और आमाशयमें दर्द, स्पर्शशक्ति की प्रबलता, शरीर के किसी भाग में बराबर दर्द, गर्दन से पेट तक झूठा गोला उठना, सच में विश्वास की कमी और मूर्च्छा ये लक्षण होते हैं ॥१९५-१९७॥

विशेषभाषा—इङ्गलिश-(Hysteria) हिस्टीरिया । मैथिली-नारी मृगी । हिन्दी-औरतों की मिरगी । संस्कृत-योषाऽपस्मार । यूनानी-आसँगोल ।

अथ योषाऽपस्मारचिकित्सा—

यद्धातुपोषकं पान-मन्नमौषधमेव च ।
कोष्ठशुद्धिकरं चापि तत्तदत्र प्रयोजयेत् ॥ १९८ ॥

जो धातु के पुष्टकारक और कोष्ठ के शोधक है वही अन्न और पान तथा उक्त गुण से

(१) अत्र फेनोद्गमं विहायाऽपस्मारस्य सर्वेषां लिङ्गानां सत्त्वादेव पाठः संगमनीयः।

युक्त दवा योषापस्मार रोगमें देनी चाहिए ॥ १९८ ॥

मूर्च्छायां शीततोयेन सेकः शिरसि चक्षुषोः ।
शिरोविरेचनं वाऽपि प्रयोज्यं तन्निवृत्तये ॥ १९९ ॥

योषापस्मार में मूर्च्छा होने पर ठण्ढा पानी से शिर और आंखों में सेवन करना चाहिए। अथवा मूर्च्छा को हटाने के लिए शिरोविरेचन कराना चाहिए ॥ १९९ ॥

अत्र प्रयोजयेत्सर्वं मूर्च्छाऽपस्मारभेषजम् ।
जरायुदोषं निखिलं प्रतिकुर्याद्यथाविधि २०० ॥

योषापस्मार रोग में मूर्च्छा और अपस्मार रोग की दवा देनी चाहिए और जरायु के दोषों की सारी चिकित्सा करनी चाहिए ॥ २०० ॥

योषापस्मरणं सान्त्वैः प्रियदानाच्च शाम्यति ॥ २०१ ॥

बुझाने समझाने से और, मनोभिलषित वस्तु को देने से योषापस्मार रोग की शान्ति होती है ॥ २०१ ॥

बृहद्भूतभैरवो रसः—

द्विगुणं स्वर्णसिन्दूरं तत्समं हेमभस्मकम् ।
मुक्ता-प्रवाल-कान्तायो-राजपट्टं समं मतम् ॥ २०२ ॥
कन्यानीरेण संमर्द्य भेकपर्ण्या रसेन च ।
पत्रैरेरण्डजैर्बद्ध्वा धान्यराशौ निधापयेत् ॥ २०३ ॥
त्रिदिनान्ते समुद्धृत्य वल्ल मात्रां वटीं चरेत् ।
एकैकां वटिकां खादेत् त्रिफला-शर्करायुताम् ॥ २०४ ॥
अथवा पयसा सार्द्धं भूतोन्मादविनाशिनीम् ।
अपस्मारं महाघोरं योषाऽपस्मारमेव च ।
हन्त्यवश्यं मदं मूर्च्छां विविधा वातवेदनाः ॥ २०५ ॥

स्वर्ण सिन्दूर और सोने का भस्म प्रत्येक २ भाग, मोती भस्म, मूंगा भस्म, कान्त लौह भस्म और राजपट्ट भस्म प्रत्येक १ भाग लेकर घीकुआर और मण्डूकपर्णी के रस में खरल कर गोली बनाकर उसको अंडी के पत्ते में लपेटकर धान के ढेरी में ३ अहोरात्र रख कर बाद उसमेसे लेकर उपयुक्त रसमें खरल कर १ वल्ल की गोली बना लेवें। त्रिफलाके चूर्ण और शकर के साथ अथवा दूध के साथ १ गोली खाने से भूत की बाधा, उन्माद, मृगी, अत्यन्त भयानक योषापस्मार, मद, मूर्च्छा और अनेक प्रकार के वात सम्बन्धी कष्ट को अवश्य हटाती है ॥ २०२–२०५ ॥

इति योषाऽपस्माररोगाधिकारः समाप्तः ॥ ८ ॥

अथ तत्त्वोन्मादाधिकारः ॥ ६ ॥

तत्र तत्त्वोन्मादस्य स्वरूपम्—

अहो मम महद्भाग्यं लब्धा यद् ब्रह्मणः कृपा ।
इत्येवं भ्रमजो मोह-स्तत्त्वोन्माद इतीरितः ॥ २०६ ॥
तत्त्वोन्मादो हर्षमौढ्यं ब्रह्ममोहश्च स स्मृतः ।
वृथार्थाप्रभवो व्याधि-रयं सद्भिर्निरूपितः ॥ २०७ ॥
किं रूपं कुत्र वा ब्रह्म नैतज्जानाति कोऽप्यहो ।
पुराणैर्दर्शनैर्वा न लब्धं यद् ब्रह्मदर्शनम् ॥ २०८ ॥
एकेशकर्तृकं विश्वं वदन्त्यन्ये निरीश्वरम् ।
ब्रह्माण्डं ब्रह्मतर्केण व्याकुलं बहुधा वृथा ॥ २०९ ॥
मानं दुरूहं सत्ताया-मास्तां दूरे दयाऽऽदिकम् ।
अनिर्णीतमनिर्णेयं तदेवमवधारय ॥ २१० ॥
मदर्थं ब्रह्म कुर्वीत-जह्येनं मम वैरिणम् ।
धनं देहि यशो देहि देहि राज्यमकण्टकम् ॥ २११ ॥
विशालनेत्रां सुदतीं पीनोन्नतपयोधराम् ।
नितम्बिनीं क्षीणमध्यां स्मरकेलिकथाविदम् ॥ २१२ ॥
नित्यं नर्मप्रियां तन्वीं रम्भोरुं रसिकेश्वरीम् ।
मद्व्रतां नित्यसंतुष्टां सुन्दरीं देहि कामिनीम् ॥ २१३ ॥
इत्थमर्थनमात्रेण ब्रह्मभीतं ससंभ्रमम् ।
भ्रान्तबुद्धे ! न मन्यस्व प्रार्थितं साधयिष्यति ॥ २१४ ॥
कदाचित् प्रार्थना काऽपि यदि ते सफला भवेत् ।
विद्धि तत् काकतालीयं तत्र ब्रह्म न कारणम् ॥ २१५ ॥
न स्तवैर्हृष्यति ब्रह्म नापि द्वेष्टि च निन्दया ।
अस्तिवादी प्रियो नास्य नास्तिवादी न चाप्रियः ॥ २१६ ॥
न मूर्खेऽनादरस्तस्य बहुमानो न पण्डिते ।
धनिनो वा भयं नास्य न दरिद्रे च ताडनम् ॥ २१७ ॥
श्वपाके यवने वाऽपि ब्राह्मणे वेदपारगे ।
मद्यपे गणिकाऽऽसक्ते मालातिलकधारिणि ॥ २१८ ॥
शुचौ वाऽप्यशुचौ साध्व्यां वेश्यायां बालवृद्धयोः ।

सर्वत्रैव समं ब्रह्म विश्वरूपं सनातनम् ॥ २१९ ॥
एवं भूतस्य तस्येय-मिति मत्प्रीतये कृतिः ।
तत्त्वोन्माद्यति यस्तस्य व्याधिरुन्माद एव हि ॥ २२० ॥

अहो ! यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैंने ब्रह्म की परम कृपा प्राप्त की इस प्रकार से जो भ्रम से उत्पन्न हुआ मोह (अन्यथा ज्ञान) है उसे "तत्त्वोन्माद" कहते हैं। इसी को तत्त्वोन्माद, हर्षमौढ्य और ब्रह्ममोह कहते हैं। विद्वानों ने इसी व्याधि को वृथा बुद्धि से उत्पन्न हुई बताई है। अहो ! पुराणों अथवा दर्शन शास्त्रों से जिस ब्रह्मका ज्ञान नहीं हुआ उस (ब्रह्म)का क्या स्वरूप है ?और वह कहां रहता है ?इसको कौन जानता है?। कोई एक ही ईश्वर से रचा हुआ यह संसार है,ऐसा कहते हैं। अन्य लोग जगत् का कर्ता ईश्वर नहीं है ,ऐसा कहते हैं। सारा ब्रह्माण्ड अनेक प्रकार से ब्रह्म सम्बन्धी तर्क-वितर्क से वृथा व्याकुल होता है। ब्रह्म की सत्ता में प्रमाण बहुत दुरूह हैं। अतः उसकी दया आदिक कहना दूर रख देना चाहिये (ब्रह्म-विषयक निर्णय न हुवा और न हो सकता है, ऐसा निश्चय समझना चाहिये। हे ब्रह्म ! तुम मेरे लिये यह कार्य करो, मेरे इस शत्रु को मारो, धन दो, यश दो, निष्कण्टक राज्य दो, विशाल नेत्र वाली, सुन्दर दांत वाली, मोटे एवम् उभर हुये स्तनवाली, अच्छे नितम्बवाली, पतली कमर वाली, कामकेलि की कथा जाननेवाली, नित्य विनोद को प्रिय मानने वाली, पतले शरीर वाली, केले के स्तम्भ की भांति जांघ वाली, रसिकों में श्रेष्ठ, मेरे अलावा अन्य को न चाहने वाली, सदा सन्तुष्ट रहने वाली ऐसी सुन्दरी स्त्री को दो । इस प्रकार से प्रार्थना मात्र से शीघ्र डरकर ब्रह्म तुम्हारी प्रार्थना को नहीं पूर्ण करेगा । हे भ्रान्त बुद्धि वाले मनुष्यो ! ऐसा तुम मत समझो । कदाचित् कोई प्रार्थना तुम्हारी यदि सफल भी हो जाय तो उसे "काकतालीय" न्याय से सिद्ध हुवा समझो, उसमें ब्रह्म को कारण मत मानो । ब्रह्म न तो स्तुति करने से प्रसन्न होता है और न निन्दा करने से द्वेष ही करता है, ब्रह्म है ऐसा कहने वाले न तो ब्रह्म के प्रिय हैं और न 'ब्रह्म नहीं है' ऐसा कहने वाले उसके अप्रिय ही हैं। न उसका मूर्ख के ऊपर अनादर ही है और न पण्डित के ऊपर अधिक आदर ही है। न धनी से उसे भय है और न दरिद्र के लिये मार पीट है । चाण्डाल, यवन (मुसल्मान), वेदपारग ब्राह्मण, मद्य पीने वाले, पवित्र, अपवित्र, पतिव्रता, वेश्या, बालक, वृद्ध ऐसे लोगों में सर्वत्र ही विश्वरूपी, सनातन, ब्रह्म समान रूप से रहता है। इस प्रकार का जो ब्रह्म है उस की यह कृति (संसार) मेरी प्रसन्नता के लिये है। इस प्रकार के तत्त्वज्ञान से जो उन्मत्त की भांति प्रलाप करता है उसे तत्त्वोन्माद नामक व्याधि हुआ कहा जाता है ॥ २०६-२२० ॥

अथास्य पात्रजनः—

प्रायशो बुद्धिहीनाना-मसतां हीनचेतसाम् ।

व्याधिरपोऽभिजायेत कदाचिन्महतामपि ॥ २२१ ॥

यह रोग (तत्त्वोन्माद) अधिक तर निर्बुद्धि, पापी और कुमार्गगामी को तथा कहीं कहीं बड़े आदमी को भी होता है ॥ २२१ ॥

अथ तत्त्वोन्मादस्य निदानम्—

अतिप्रगाढाच्चिन्तनस्य धर्माद्यभिनिवेशनात् ।
व्याधिस्तत्त्वोन्मादो नाम जायते वातकोपतः ॥ २२२ ॥

मानसिक अधिक कष्ट से धर्मादिक में वृथा आग्रहकरने (तर करने) से और वात के कोप से तत्त्वोन्मादरोग होता है ॥ २२२ ॥

अथास्य लक्षणम्—

ब्रह्ममोहे प्रमूढत्वं स्थिरास्पन्दा कनीनिका ।
चक्षुरुन्मीलितं सुप्तिर्गतिरोधोऽथ वाग्मिता ॥ २२३ ॥
दम्भोग्रभावौ विक्षेपो हास्यं क्लैब्यं च रोदनम् ।
एवम्भूतानि लिङ्गानि तत्त्वोन्मादे भवन्ति हि ॥ २२४ ॥

ब्रह्ममोह (तत्त्वोन्माद) रोग में मूर्खता, आंख की पुतली-स्थिर, स्फूर्ति से रहित, आंख खुली, सोना, चलने में अशक्ति, बोलने में चमत्कारी, अहंकारी, होना उद्धतपना, हाथ-पैर को फेंकना, हसना, उन्मत्तता और रोना ये सब लक्षण होते हैं ॥२२३-२२४॥

विशेष भाषा—मैथिली–भावनाग्रनक । हिन्दी—विचार बौरापन । संस्कृत–तत्त्वोन्माद ।

अथ तत्त्वोन्मादस्य चिकित्सा—

स्नायुस्थैर्य्यकरं यद्यत् तथा वातानुलोमनम् ।
भेषजं पानमन्नं च तत्तदत्र प्रयोजयेत् ॥ २२५ ॥

स्नायुके स्थिरताकारक जो पदार्थ हैं और जो पदार्थ वात का अनुलोमन कारक हैं वैसे पदार्थों की दवा, भोजन और पान को तत्वोन्माद रोगमें प्रयोग करना चाहिए ॥

श्रीखण्डादिचूर्णम्—

श्रीखण्डं शारिवां श्यामा मुशलीं मधुकं त्रिडम् ।
फलत्रयं निशाद्वन्द्व–मुत्पलं नागकेसरम् ॥ २२६ ॥
मांसीमिक्षुरकं वाल–मुशीरं गिरिमृत्तिकाम् ।
बलां नागबलां चैव भिषगेकत्र चूर्णयेत् ॥ २२७ ॥
पयसा धारयोष्णेन शाणमस्य प्रपाययेत् ।
अनेन नाशमायान्ति तत्त्वोन्मादादयो गदाः ॥ २२८ ॥

श्रीखंड, अनंतमूल, कालीनिसोथ, मुसलीकन्द, जेठीमधु, वायभिरंग, त्रिफला, हल्दी, दारुहल्दी, कमल, नागेसर, जटामासी, तालमखाना, बालछड़, खस, गेरू, वरिआरा,

और काला वरिआरा इन पदार्थों को समान भाग लेकर सूक्ष्म चूर्णकर रखलेवे। उक्त चूर्ण का एकशाण की मात्रा धारोष्ण दूध के साथ वैद्य खिलावे। इससे तत्त्वोन्माद आदिक रोग दूर होते हैं ॥ २२६-२२८ ॥

चैतन्योदयो रसः—

हेमाभ्रं मौक्तिकं सूतं गन्धकं जतुकायसी।
तुगाक्षीरं शशाङ्कं च भावयित्वा वराऽम्भसा ॥ २२९ ॥
रक्तिमाना वटीः कृत्वा छायायां परिशोषयेत्।
शतावर्य्यम्भसा शान्त्यै तत्त्वोन्मादस्य पाययेत् ॥ २३० ॥

सोने का भस्म, अभ्रकभस्म, मोती भस्म, पारा भस्म, गंधक, शिलाजीत, लौह-भस्म, वंसलोचन और कपूर इनको समान भाग में लेकर शतावरी के रस में भावना देकर १ रत्ती की गोलियां बनाकर छाया में सुखालेवे। इसकी १ गोली शतावरी के रस के साथ तत्त्वोन्माद रोग को हटाने के लिए देनी चाहिए ॥ २२९-२३० ॥

शतधौतघृताभ्यङ्गो-ऽसमे च मधुसर्पिषी।
आज्यं सलिलमिश्रं च ब्रह्ममोहे परौषधम् ॥ २३१ ॥

पानी से १०० बार धोया हुआ गोघृत को शरीर में लगाना अतुल्य घी और मधु को खाना और घी मिलाकर पानी पीना ये तत्त्वोन्माद रोग की उत्तम दवा है॥२३१॥

कदाचित्ताडनाद्यैश्च ब्रह्ममोहः प्रशाम्यति।
गदे त्वप्रकृते तस्मिन् प्रहार एव भेषजम् ॥ २३२ ॥

कभी२ रोगी को पीटने-डराने आदि से भी तत्त्वोन्माद रोग नष्ट होता है। तत्त्वोन्माद के रोगी को उद्दंड होने पर पीटना ही अच्छी दवा होती है ॥ २३२ ॥

अपस्मारहरं यच्च वातव्याधिहरं तथा।
घृततैलादिकं सर्वं ब्रह्ममोहे प्रशस्यते ॥ २३३ ॥

तत्त्वोन्मादरोगमें मृगीनाशक और वातव्याधिनाशक घी तथा तेल प्रशस्त होता है

अथ पथ्यापथ्यव्यवस्था—

धारोष्णं गोपयः शस्तं शालयश्च पुरातनाः।
यवमुद्गतिलाश्चापि निखिलं चानुलोमनम् ॥ २३४ ॥
परिहासः प्रियैः सार्द्धं प्रियाभिश्च सहाऽऽसनम्।
इत्येतानि हितान्यत्र विपरीतान्यशर्म्मणे ॥ २३५ ॥

तत्त्वोन्माद रोग में—गायका धारोष्ण दूध, पुराना धान, जौ, मूंग, तिल और वात के अनुलोमन कारक पदार्थ, मित्र के साथ हंसी दिल्लगी तथा स्त्रियों के साथ सोना बैठना पथ्य और इसके विपरीत अपथ्य होता है॥ २३४-२३५ ॥

इति तत्त्वोन्मादाधिकारः समाप्तः ॥ ९ ॥

अथ ताण्डवरोगाधिकारः ॥ १० ॥

तत्र ताण्डवरोगस्य निदानम्—

(१) अत्यातङ्कादतिक्रोधा-दतिहर्षाद्बलक्षयात् ।
कर्षणात् स्वप्नदोषाच्च विड्बन्धात् क्रिमिसंचयात् ॥ २३६॥
आशानाशादभीघातात् स्त्रीणामृतुविपर्ययात् ।
कशेरुकाभिभङ्गस्त्वा-त्युग्रभावात् प्रजायते ॥ २३७ ॥

अधिक बीमारी, अधिक क्रोध, अधिक आनन्द, ताकत की कमी, उपवास आदिक, स्वप्नदोष, पैखाने में कब्ज, कीरे का पेट में होना, अभिलाषा की हानि, शरीर में चोट, स्त्रियों को मासिक विलीनता होने से ताण्डव रोग होता है। और रोग की अत्युग्रता हो जाने पर ताण्डव रोग में पृष्ठवंश की कशेरुकायें टूट जाती हैं॥२३६–२३७॥

अथास्य नामव्युत्पत्तिः—

व्याधिस्ताण्डवनामा स प्राणिनां क्लेशकृत्परः ।

---

(१) हिमवच्छिखरे रम्ये सिद्धर्षिगणसेविते । सुगन्धि–सुमनः शोभि–फलवद्बहुपादपे ॥ १ ॥
अनद्विजकले शान्तैः श्वापदैर्बहुभिर्वृते । वटमूले समासीन–मात्रेयं ज्ञानसागरम् ॥ २ ॥
आयुर्वेदमहाचार्यं तपोदीप्त–कलेवरम् । उरभ्रो भक्तिमानग्रे कृताञ्जलिरभाषत ॥ ३ ॥
कथं ताण्डवरोगस्य जन्म चिह्नानि कानि च । कथं च स्यात् प्रतीकारः सर्वं मे कृपया वद॥४॥
श्रुत्वैतां प्रार्थनां धीरः शिष्याय शिष्यवत्सलः । वचनैर्व्यक्तमारेभे व्यक्तार्थैस्तदृषीश्वरः ॥५॥

आत्रेय उवाच—

प्रीतोऽस्मि भक्तिमन् वत्स! श्रुवेयच्छ्रोतुमिच्छसि । यद्दक्षायावदत्पूर्वं ब्रह्मा लोकपितामहः ॥६॥

सिद्ध तथा ऋषि गणोंसे सेवित, सुगन्धित फूलों की शोभा से युक्त फल से लदे हुये अनेक प्रकार के वृक्षों से युक्त, पक्षियों के कलरव से व्याप्त, एक दम से शान्ति को धारण किये हुये । बहुत से हिंस्र जीवों से युक्त, ऐसे मनोहर हिमालय के शिखर पर वट वृक्ष के नीचे आसन लगा कर बैठे हुये, ज्ञान के सागर, आयुर्वेद शास्त्र के बड़े भारी आचार्य, तपस्या से तेजो युक्त शरीर वाले आत्रेय भगवान् के आगे हाथ जोड़े हुये भक्ति से युक्त होकर उरभ्र ऋषि बोले— हे भगवन् ! ताण्डवरोग की उत्पत्ति किस प्रकार से हुई ? और उसके कौन २ से लक्षण हैं ? एवम् उसकी चिकित्सा किस प्रकार से होती है ? यह सब मुझसे कृपाकर आप कहें । उसके बाद ऋषियों में श्रेष्ठ, धीर अर्थात् बुद्धि के देने वाले, शिष्यों के ऊपर वात्सल्य भाव रखने वाले आत्रेय भगवान् इस प्रकार की उरभ्र की प्रार्थना को सुन कर स्पष्ट अर्थवाले वचनों के साथ कहना प्रारम्भ किया । आत्रेय भगवान् बोले—हे उत्तम भक्तिवाले वत्स उरभ्र ! मैं तुम से प्रसन्न हूं अतः जो तुम सुनना चाहते हो उसी को पूर्व काल में लोगों के पितामह (आदि पुरुष) ब्रह्मा जी ने दक्षप्रजापति जी से जैसा कहाथा वैसा कहता हूं ॥ १–६ ॥

अङ्गानां ताण्डवादस्य ताण्डवाख्या बुधैः कृता(१) ॥ २३८ ॥

ताण्डवनामक जो यह रोग है वह मनुष्य को अधिक दुःखदायक होता है॥ और यह रोग शरीरको नचा देता है अतः वैद्यों ने इसका नाम ताण्डव रोग रक्खा है॥२३८॥

अथ ताण्डवरोगस्य लक्षणम्—

वामबाहुं समारभ्य प्राय आदौ ततोऽपरम् ।
ततः पादौ ततोऽङ्गानि चालयेत्ताण्डवामयः ॥ २३९ ॥
मुष्टिना किमपि द्रव्यं सम्यग्धारयितुं क्षमः ।
समर्पयितुमास्ये वाऽ-प्यदनीयं न ताण्डवी ॥ २४० ॥
नृत्यन्निव चलत्येष बीभत्सैर्मुखचेष्टितैः ।
अधीरः सततं तिष्ठे-न्निद्रायां कम्पवर्जितः ॥ २४१ ॥

यह रोग बहुधा पहले बांई बाँह को पकड़कर पीछे दहिनी बांहका पकड़ता है इसके बाद पैरों और समूचे शरीर को कँपाता है। ताण्डव रोग का रोगी किसी चीज को अपनी मुट्ठी से उठा नहीं सकता और न खाने को अपने मुख में रख सकता है। मुख को बदसूरत किये नाचते २ राह चलता है। और निरन्तर अधीर (चञ्चल) रहता है एवम् सो जाने पर कम्प से रहित हो जाता है॥ २३९-२४१ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश Infantiel Couvulsions इन्फैण्टाइल कन्व-लशन्स् । मैथिली-कंपवात । हिन्दी-देहझूला । संस्कृत-ताण्डव ।

अथ ताण्डवरोगस्य चिकित्सा—

बृंहणं रेचनं चैव वह्नेर्बलविवर्द्धनम् ।
औषधं पानमन्नञ्च प्रयोज्यं ताण्डवे गदे ॥ २४२ ॥

ताण्डव रोग में बलबर्धक, दस्तावर और अग्निबर्धक दवा, भोजन तथा पान का प्रयोग करना चाहिए॥ २४२ ॥

क्रिमिसंचयसंभूते कार्यं क्रिमिविनाशनम् ।
रजोरोधभवे व्याधौ रजसस्तु प्रवर्त्तनम् ॥ २४३ ॥

पेट में कीड़ों का संचय होने से उत्पन्न ताण्डवरोग में कीड़े नाश की दवा करे और मासिक रुकावट के ताण्डव रोग में Montly Cors रजःप्रवर्त्तक दवा देनी चाहिए॥२४३॥

श्यामामनन्तां मधुकं त्रिवृतां चन्दनद्वयम् ।

(१) कैशोरे वयसि प्रायः स्त्रीणां चापि विशेषतः । व्याधिरेषोऽभिजायेत वृद्धानां च बलक्षयात्॥१॥

अर्थ—स्त्रियों को भी विशेष करके युवावस्था में प्रायः यह रोग होता है। और वृद्धों को बल की क्षीणता से होता है॥ १ ॥

एलाद्वयं तथा धात्रीं काथयित्वा जलं पिबेत् ॥
अनेन प्रशमं याति ताण्डवाख्यो गदो ध्रुवम् ॥ २४४ ॥

निसोथ, अनंतमूल, जेठीमधु, निसोथ, दोनों चंदन, दोनों इलायची, और आंवला इनके समान भाग का क्वाथ पीने से निश्चय ताण्डव रोग नष्ट होता है ॥२४४॥

ताण्डवारिलौहम्—

दारुणरामठकर्पूर-वङ्गदायो यथोत्तरम् ।
प्रगृह्य चतुरावृत्त्या विभाव्य विजयाऽम्बुना ॥ २४५ ॥
कुपीलुजकषायेण पार्थस्य स्वरसेन च ।
षड्रक्तिकां वटीं कृत्वा युञ्ज्यात्ताण्डवशान्तये ॥ २४६ ॥

दारुहल्दी १ भाग, हींग २ भाग, शुद्धकपूँर ३ भाग, शीशा (नाग) भस्म ४ भाग और लौह भस्म ५ भाग लेकर भांग का रस, करील (पीलु) का क्वाथ और अर्जुनवृक्षका स्वरस इनमें चार २ भावनायें देकर ६ रत्तो की गोली बनावे। इसके सेवन से ताण्डव रोग अवश्य नष्ट होता है ॥ २४५-२४६ ॥

ताण्डवरोगे पथ्यम्—

बृंहणं पानमन्नञ्च स्नानं स्रोतस्वनीजले ।
शयनं क्लेशशून्यं यत्-कर्म तच्चेह शर्म्मणे ॥ २४७ ॥

बलकारक भोजन और पान, नदी में स्नान, सुख से सोना, क्लेश से शून्य जो २ कर्म हैं वे सब इस ताण्डव रोग में पथ्य हैं ॥ २४७ ॥

ताण्डवरोगेऽपथ्यम्—

कर्षणाद्यखिलं प्रोक्त-मशुभाय पुरातनैः ॥ २४८ ॥

ताण्डवरोगमें कर्षणादिक दस्तावर दवा, अन्न और पान आदिक अपथ्य होता है। ऐसा प्राचीन वैद्यों ने कहा है ॥ २४८ ॥

इति ताण्डवरोगाधिकारः समाप्तः ॥ १० ॥

अथ स्नायुशूलाधिकारः ॥ ६ ॥

अथ स्नायुशूलस्य स्वरूपम्—

स्नायुष्वतीव या घोरा तच्छाखास्वपि वा पुनः ।
वेदना स्नायुशूलाख्या सा भवेत्प्राणपीडनी ॥ २४९ ॥

स्नायुशूल रोग में स्नायु और स्नायुकी शाखाओंमें दर्द होता है जोकि प्राणों को विशेष पीड़ा पहुचाने वाली होती है ॥ २४९ ॥

अथास्य स्थानम्—

बाह्वोः शीर्ष्णस्तथा सक्थ्नो-रन्यस्याङ्गस्य वा पुनः ।

त्वचो निम्नस्थितास्वेव वस्नसासु गदो भवेत् ।। २५० ।।
शूलोऽयं निखिलाङ्गेषु भवेत्तीव्ररुजाकरः ।
विशिष्टाङ्गभवस्यास्य विशिष्टाऽऽख्या च वर्तते ।। २५१ ।।
ऊर्ध्वभेदार्धभेदौ चा-प्यधोभेदस्तथैव च ।
मुण्डमुण्डार्द्धकस्फिग्ज-गदानामभिधाः क्रमात् ।। २५२ ।।

इस रोग में बाँहों की, गर्दन की, पैरों की तथा अन्य अङ्गों की भी चमड़े के नीचे स्थित स्नायुओं में यह दर्द होता है। कितनों को यह शूल समूचे शरीरमें अधिक दर्द करनेवाला होता है। इस रोगका, अङ्ग विशेष में उत्पन्न होने से तद-नुसार नामभेद होता हैं। जैसे कि-मुण्ड, मुण्डार्धतथा नितम्ब में उत्पन्न होने से क्रमसे ऊर्ध्वभेद भेद रूपअर्द्धभेद तथा अधो, नाम का भेद होता है ॥ २६०-२६२ ॥

अधोर्ध्वभेदकस्नायुशूलस्य निदानम्—

बलरक्तक्षयाद्वाऽपि वृक्कमस्तिष्कदोषतः ।
अजीर्णादशनव्याधे-रूर्ध्वभेदो गदो भवेत् ।। २५३ ।।

ताकत की कमी और खून की कमी से, वृक्क तथा मस्तिष्क की खराबी होने से और अजीर्ण भोजन से, दन्त रोग से ऊर्ध्वभेद नामक स्नायुशूल रोग होता है ॥२६३॥

अथोर्ध्वभेदस्नायुशूलस्य लक्षणम् —

ललाटेऽक्षिपुटे निम्ने गण्डे नस्योष्ठ एव च ।
जिह्वापार्श्वेऽधरे दन्ते शूलवद्दाहवच्च या ।। २५४ ।।
एकस्मिन् प्रायशः पार्श्वे वेदना मुखमण्डले ।
ऊर्ध्वभेदाख्यया सोक्ताऽगदङ्कारैः क्रमैधिनी ।। २५५ ।।

जिस रोग में कपार, नेत्र के नीचे, गाल, नाक और ओठ, जीभ के पार्श्व भाग में, नीचे दाँतों में दाह और शूल की भांति दर्द और प्रायः कर के मुखमण्डल में एक ही भाग में क्रम से बढ़ने वाला दर्द होवे तो उसे वैद्यों ने ऊर्ध्वभेदक नामक स्नायु शूल कहा है ॥ २६४-२६५ ॥

अथोर्ध्वभेदस्यानुपशयः—

शीतानिलस्य संस्पर्शा-द्देहकम्पाच्च वर्द्धते ।
स्नायुभेदस्य विकृते-रङ्गभेदे भवेद्गदः ।। २५६ ।।

यह रोग ठंढा पानी को छूने से शरीर का कम्प होने से, स्नायु विशेष की विकृति से अङ्ग विशेष में यह रोग होता है ॥ २६६ ॥

अथार्द्धभेदस्य स्नायुशूलस्य निदानम्—

आर्द्रस्थानस्थितेश्चापि शीतयोगाद्बलक्षयात् ।

अर्द्धभेदः प्रजायेत दुष्टवाताम्लसेवनात् ॥ २५७ ॥

गीली जमीन पर बैठने से, अधिक ठंढी के सेवन से, खटाई खाने से और बुरी हवा तथा बुरे पानी के सेवन से अर्धभेद नामका स्नायुशूल होता है ॥ २५७ ॥

अथार्धभेदस्नायुशूलस्य लक्षणम्—

याऽर्द्धं व्याप्य भवेत्तीव्रा वेदना मुखमण्डले ।
वामे च प्रायशः पार्श्वे साऽर्द्धभेदः प्रकीर्त्यते ॥ २५८ ॥
बाणेनेव शिरो विद्धं व्यथतेऽति सुदारुणम्।
कदाचित्क्रमसमालम्ब्य विरामश्चात्र वा महान् ॥ २५९ ॥
बाहुल्येन च नारीणां व्याधिरेषः प्रजायते ।
प्रादुर्भावो वयस्थस्य यौवने ह्यधिको भवेत् ॥ २६० ॥

अर्धभेद नामक स्नायुशूल में आधे मुख में जो अधिक दर्द प्रायः करके बाईं ओर होता है उसे अर्धभेद कहते हैं। शिर में शर के चुभने सा दर्द और अधिक दुःख होता है । और कभी क्रम का अवलम्बन करके दुःख से शान्ति मिलती है। यह रोग बहुधा स्त्रियों को होता है । यह रोग प्रायः करके प्रौढ अवस्था में होता है और जवानी में जोर तोर से होता है ॥ २५८-२६० ॥

अथाधोभेदस्य स्नायुशूलस्य निदानम्—

विड्विरोधाच्छ्रमाच्छीता-दौर्बल्यादामवाततः ।
आर्द्रस्थानस्थितेर्गर्भ-दोषात् स्यान्निम्नभेदकः ॥ २६१ ॥

पैखाने की रुकावट से, थकावट से, शीत से, कमजोरी से, आमवात से, गीली जमीन पर बैठने से और गर्भ की विकृति से अधोभेद नामक स्नायुशूल रोग होता है ॥ २६१ ॥

अथाधोभेदस्नायुशूलस्य लक्षणम्—

स्फिच्यूरुजानुसन्ध्योश्च पश्चिमे च क्वचित्पदे ।
जङ्घायां वाऽपि यच्छूल-मधोभेदः स उच्यते ॥ २६२ ॥
एकस्मिन् प्रायशः सक्थ्नि शूलोऽयं स्यान्निशावली ।
बाहुल्येनैव वयसि प्रौढ एव प्रजायते ॥ २६३ ॥

जिसमें चूतर, ऊरु, घुटने और कहीं २ पैरों के पीछे भाग और जङ्घाओं में दर्द हो उसे अधोभेद नामक स्नायुशूल कहते हैं । इसमें कहीं कहीं रात में बढ़ जाने वाला दर्द एक पैर में होता है । यह रोग बहुधा प्रौढ अवस्था में ही होता है ॥२६२-२६३॥

विशेषभाषा—इंगलिश-Neuralgia (न्यूरेल्जिया) । मैथिली । सूतकशूल-हिन्दी-बन्धकदर्द । संस्कृत-स्नायुशूल ।

अथ स्नायुशूलस्य चिकित्सा—

यदग्नेर्दीपनं किञ्चि-द्यद्वा स्याद्बलवर्धनम् ।
वातानुलोमनं यच्च स्नायुशूले तदौषधम् ॥ २६४ ॥

अग्निवर्धक, बलवर्धक और वात के अनुलोमन कारक जितने पदार्थ हैं वे सब स्नायुशूल में उत्तम औषध हैं ॥ २६४ ॥

स्नायुशूलहरं चूर्णम्—

एलाद्वयमुशीरञ्च चन्दनं शारिवाद्वयम् ।
मेदाद्वन्द्वं निशाद्वन्द्वं गुडूचीं विश्वभेषजम् ॥ २६५ ॥
फलत्रयं यमानीं च रौप्यं सर्वसमं तथा ।
एकीकृत्य वल्लमानं पाययेद्गव्यसर्पिषा ॥ २६६ ॥
स्नायुशूलहरं नाम चूर्णमेतद्धरेद् ध्रुवम् ।
निखिलं स्नायुशूलं च सर्वान् वातामयांस्तथा ॥ २६७ ॥

दोनों इलाइची, खस, सफेद चन्दन, दोनों अनन्तमूल, दोनों मेदा, दोनों हल्दी, गुरिच, सोंठ, त्रिफला और जमाइन ये सब समान भाग और सब के समान चान्दी भस्म लेकर पानी में खरल करके १ वल्लकी मात्रा बनाकर गो घृत के साथ खाने से सभी प्रकार के स्नायुशूल नष्ट होते हैं। यह स्नायुशूलहर नामक चूर्ण हर एक प्रकार के वात रोगों को भी समूल नष्ट करता है ॥ २६५–२६७ ॥

मिहिरोदयो रसः—

माक्षिकं रजतं लौहं सिन्दूरं वह्निवारिणा ।
भावयित्वा विमर्द्याथ कृत्वा रक्तिमिता वटीः ॥ २६८ ॥
एकैकां खादयेदासां त्रिफलाद्भिरहर्मुखे ।
मिहिरोदयनामाऽयं स्नायुशूलं रसो हरेत् ॥ २६९ ॥

शुद्ध सोनामक्खी, चान्दीभस्म, लौहभस्म और सिन्दूररस समान भाग लेकर चित्त के रसकी भावनासे सूक्ष्म खरल कर १ रत्ती की वटी बना लेवे। यह मिहिरोदय रस त्रिफला के क्वाथ के साथ प्रातः काल सेवन करने से स्नायुशूल को हरण करता है ॥ २६८–२६९ ॥

प्रयोज्यं दारु गरलं-मर्धभेदप्रशान्तये ।
विरतौ तत्प्रयोक्तव्यं न प्रकोपे कदाचन ॥ २७० ॥

अर्धभेदक स्नायुशूल में देवदारु और विषका प्रयोग करने से लाभ होता है। किन्तु उक्त प्रयोग वेग की शान्त अवस्था में ही करना चाहिए प्रकोपावस्था में कभी नहीं करना चाहिये ॥ २७० ॥

मदिराऽमृतसाराख्यं लौहं चांद्रः कुपीलुजः ।
सेव्याम्येतानि विधिना स्नायुशूलस्य शान्तये ॥ २७१ ॥

स्नायुशूल के विनाशार्थ मद्य, अमृतसार लौह और शुद्ध कुचिला चूर्ण इनका विधिपूर्वक प्रयोग करना चाहिए ॥ २७१ ॥

स्वेदसेकप्रलेपांश्च स्नायुशूलेषु योजयेत् ।
तीव्रं विरेचनं चात्र विदध्यान्मलसंचये ॥ २७२ ॥

स्नायु शूल रोग में स्वेदन क्रिया, सेक और प्रलेपन क्रिया करनी चाहिये । यदि इसरोग में मल का संचय हो तो कड़ा जुलाब देना चाहिये ॥ २७२ ॥

घृतं तैलादिकं योज्य-मनिलामयनाशनम् ।
स्नायुशूलेषु सर्वेषु भेषजं च रसायनम् ॥ २७३ ॥

सभी प्रकार के स्नायुशूल में वातव्याधि नाशक हर एक प्रकार के घी, तेल और रसायन औषधों का प्रयोग करना चाहिए ॥ २७३ ॥

स्नायुशूलेषु पथ्यापथ्यम्—

यत् पथ्यं यदपथ्यं च वातव्याधौ प्रकीर्त्तितम् ।
तथैव स्नायुशूलेषु निर्णीतं विबुधैरिह ॥ २७४ ॥

वातव्याधि में जो जो पथ्य और अपथ्य कहा गया है । वैद्योंने उन्हीं पदार्थों को ही स्नायुशूल में पथ्य और अपथ्य कहा है ॥ २७४ ॥

इति स्नायुशूलाधिकारः समाप्तः ॥ ११ ॥

अथ क्लोमरोगाधिकारः ॥ १२ ॥

तत्र क्लोमस्थानम्—

प्लीहाक्षुद्रान्त्रयोर्मध्य-मन्नपाकादिकर्म्मणि ।
सहायभूतमध्यास्ते क्लोम तच्च तिलाभिधम् ॥ २७५ ॥

प्लीहा और छोटी अंतड़ी के बीच में भोजन के पचने में मदद देने वाला जो है उसको क्लोम और तिल कहते हैं ॥ २७५ ॥

अथ क्लोमरोगनिदानम्—

गुर्वतिस्निग्धभोज्यैश्चा-प्यभिघातादिभिस्तथा ।
वृद्धिस्तस्य मृदुत्वं च तत्र शोणितसंचयः ॥ २७६ ॥
विद्रधिर्वा भवेत्तत्र व्याधयोऽन्ये च दारुणाः ।
एवं विकृतिमापन्ने तिलके वह्निसंक्षयः ॥ २७७ ॥

भारी और चिकना खाना खाने और चोट आदि के लगने से तिल बढ़ जाता है और कोमल हो जाता है । तब वहां पर रक्त का संचय या विद्रधि रोग और अधिक

कष्टदायक अन्य रोग भी हो जाता है। इस प्रकार से तिल खराब होने से अग्नि नष्ट हो जाती है ॥ २७६-२७७ ॥

अथ क्लोमरोगस्य लक्षणम्—

उत्क्लेशो वमनं कार्श्यं पाण्डुता सदनं भ्रमः ।
ऊर्ध्वोदरे तथा तीव्रा काठिन्यमपि चोष्णता ॥ २७८ ॥
शूलाध्मानप्रसेकाश्च विद्रधौ महती च तृट् ।
शिला चाप्यश्मरीतुल्या सुकष्टाऽप्यत्र जायते ॥ २७९ ॥

क्लोम रोग में जीमिचलाहट, कै, शरीर की कृशता, पाण्डुरोग, दुर्बलता, भ्रान्ति, पेट के ऊपर भाग में भयानक और कठोर गांठ, गर्मी, दर्द, आध्मान, मुख से पानी छूटना होता है। और विद्रधि होने पर अधिक प्यास लगती है और अश्मरी के बराबर अधिक दुःखदायक पत्थर हो जाता है ॥ २७८-२७९ ॥

विशेष भाषा—मैथिली-पेटक गोला। हिन्दी। मेट में पत्थर। संस्कृत-क्लोम।

अथ क्लोमरोगस्य चिकित्सा—

यद्वह्नेर्दीपनं यच्च मारुतस्यानुलोमनम् ।
अन्नपानौषधं सर्वं तत्तत्क्लोम्न्यातुरे हितम् ॥ २८० ॥

अग्निदीपक और वायका अनुलोमक जो अन्न-पान और दवा हैं, वे क्लोम रोग में हितकारक होते हैं ॥ २८० ॥

अभयाऽऽदिक्वाथः—

अभयाऽऽमलकं दारु धन्याकं विश्वभेषजम् ।
द्राक्षा च शारिवेत्येषां क्वाथः क्लोमगदापहः ॥ २८१ ॥

हर्रे, औरा, दारुहल्दी, धनिआं, सोंठ, दाख और अनंतमूल इनका क्वाथ क्लोम-रोगको नष्ट करता है ॥ २८१ ॥

यो यः समाश्रयेद्व्याधिः क्लोम्नि तं तमवेक्ष्य च ।
क्रियां संसाधयेद्वैद्यो यथादोषं यथाबलम् ॥ २८२ ॥

क्लोमरोग में यदि रोगान्तरकी उत्पत्ति होवे तो जो २ अन्य रोग जिस २ दोष से होवें उन २ दोषों के विनाशार्थ रोगी के बलानुसार चिकित्सा करे ॥ २८२ ॥

सुरेन्द्रमोदकश्चैव रसश्च शशिशेखरः ॥ २८३ ॥
क्लोमरोगे प्रयोक्तव्यं विविच्य भिषजा सदा ।
सुरेन्द्राभ्रवटी चैव वातपित्तहरं च यत् ॥ २८४ ॥

क्लोमरोगमें सुरेन्द्रमोदक, शशिशेखर रस, सुरेन्द्राभ्रवटी और वात-पित्तनाशक दवा वैद्य सोच विचार कर इनका प्रयोग करे ॥ २८३-२८४ ॥

क्लोमरोगे पथ्यापथ्यानि—

अनुग्राण्यन्नपानानि क्लोमामयनिपीडितः ।
सेवेतोग्राणि सर्वाणि यत्नतः परिवर्जयेत् ॥ २८५ ॥

क्लोम के रोगी अनुग्र (मृदु) अन्न और पान का प्रयोग करें तथा उग्र (तीक्ष्ण) अन्न और पान का कभी न सेवन करे । २८५ ॥

इति क्लोमरोगाधिकारः समाप्तः ॥ १२ ॥

अथ वृक्करोगाधिकारः ॥ १३ ॥

अथ वृक्करोगस्य निदानम्—

रक्तस्य परिवृत्त्या हि जायते वृक्कवैकृतम् ॥ २८६ ॥

खून की दौरान में रुकावट होने से वृक्करोग होता है ॥ २८६ ॥

अथ वृक्करोगस्य पूर्वरूपम्—

त्वग्रूक्षोष्णा वेगवती धमनी कठिना तथा ।
निद्रानाशो वह्निमान्द्यं शोथोऽक्षिणि च मुखे पदे ॥
वृक्कामयस्य पूर्वाणि रूपाण्याहुर्भिषग्वराः ॥ २८७ ॥

वृक्करोग के पहले चमड़ा में खरखराहट, कड़ी और अधिक चाल से चलने वाली नाड़ी, निद्रा का अभाव, मन्दाग्निता, मुख और आंखों में सूजन ये लक्षण होते हैं, इसे वैद्य लोग वृक्करोग का पूर्वरूप कहते हैं ॥ २८७ ॥

अथ वृक्करोगस्य लक्षणम्—

रक्ताल्पत्वान्मुखस्य स्यात् पाण्डुत्वं कटिवेदना ।
त्वक् शुष्का स्वेदहीना च धमनी द्रुतगामिनी ॥ २८८ ॥
वह्निमान्द्यमजीर्णञ्च भक्तद्वेषो व्यथोदरे ।
अम्लोद्गारस्तथा च्छर्दि-र्हृद्वेपः श्वासकृच्छ्रता ॥ २८९ ॥
मूत्राल्पत्वं सदावेगो विशेषान्निशि जायते ।
मूत्रकाले च शिश्नाग्रे मनाग्दाहोऽनुभूयते ॥ २९० ॥
वृक्कयोर्विकृतिश्चास्मिन् विशेषाज्जायते गदे ।
यकृत्प्लीहहृदां चापि सा सदैव प्रजायते ॥ २९१ ॥
कर्णनादो दृष्टिदोषः शिरोग्रीवांऽसवेदना ।
शाखासु गौरवं मूर्च्छा वृक्करोगस्य लक्षणम् ॥ २९२ ॥

वृक्करोग होने पर खून की कमी होने से मुख की रङ्गत पाण्डुरङ्ग, कमर में दर्द, चमड़ा सूखा, पसीना का अभाव, नाड़ी अधिक वेगसे चलने वाली, अग्निमन्दता

अरुचि, पेटमें दर्द, खट्टी डकार, कै, कलेजा में कंप, कष्ट से सांस का लेना, पेसाब की कमी, पेसाब का अधिक तलब रात में होना, पेसाब करने के समय में लिङ्ग के अग्रभाग में कुछ जलन मालूम होना ये सब लक्षण होते हैं। दोनों वृक्कों में विशेष रूप से इस रोग में विकृति होती है। और यकृत्, प्लीहा और कलेजे में भी सर्वदा विकृति रहती है। कानों में सनसनाहट, आखों की बीमारी, माथा, गर्दन और कान्धों में दर्द, हाथों और पैरों में गुरुता और मूर्च्छा ये वृक्करोग के लक्षण होते हैं ॥ २८८-२९२ ॥

विशेषभाषा—इङ्गलिश-Inimeia (इनिमियां)। मैथिली-अंडरोग। हिन्दी-अण्डकोशकारोग। संस्कृत-वृक्कामयः।

अथ वृक्करोगस्य चिकित्सा—

यन्मूत्रलं शोणितशोधनञ्च यत्पोषणं वह्निविवर्धनञ्च।
वृक्कस्य रोगे परियोजयेत्तद् व्याधेर्बलं वीक्ष्य भिषग्विधिज्ञः॥ २९३ ॥
रसो विवर्धयेद्व्याधि-मतस्तं नेह योजयेत् ॥ २९४ ॥

क्रिया में कुशल वैद्य बीमारी का बल देखकर जो पदार्थ पेसाब को उतारे, खून को ठीक करे, शरीर को मोटा-ताजा बनावे और अग्नि को बढ़ावे, उन पदार्थों का वृक्क रोग में प्रयोग करना चाहिए। रस (पारा) वृक्क रोग को बढ़ाता है, अतः इसे वृक्क रोग में न प्रयोग करे ॥ २९३-२९४ ॥

सर्वतोभद्रावटी—

हेमरौप्याभ्रलौहानि जतु गन्धकमाक्षिकम्।
वटीं रक्तिमितां कुर्य्याद्विमर्द्य वरुणाम्भसा ॥ २९५ ॥
वटीयं सर्वतोभद्रा निखिलान् वृक्कजान् गदान्।
हरेद्वस्तिभवांश्चापि शूलान् वीर्यं च वर्द्धयेत् ॥ २९६ ॥

सोनाभस्म, चान्दीभस्म, अभ्रभस्म, लौहभस्म, शिलाजीत, गंधक और सोना मक्खी समान भाग लेकर वरुण के क्वाथ में खरलकर १ रत्ती की वटी बनावे। यह सर्वतोभद्रा नाम की बटी सब प्रकार के वृक्करोग और वस्ति रोग एवं दर्द को नष्ट करती है और धातु को बढ़ाती है ॥ २९५-२९६ ॥

रसायनाधिकारोक्तान्यौषधान्यत्र योजयेत्।
न चास्ति शमने किञ्चिन्निर्दिष्टमस्य भेषजम्।
पथ्यैर्बल्यैः सुपाच्यैश्च भिषगेनं प्रयापयेत् ॥ २९७ ॥

वृक्क रोग में रसायनाधिकारकी सभी दवायें प्रयोग करे। और वृक्क रोग नाशक कोई खास दवा नहीं देखी गई है अतः वैद्य इस रोगी को बलकारक और शीघ्र पचनशील दवा और पथ्य खिलाकर चिकित्सा करे ॥ २९७ ॥

इति वृक्करोगाधिकारः समाप्तः ॥ १३ ॥

अथौपसर्गिकमेहाधिकारः ॥ १४ ॥

अथौपसर्गिकमेहस्य निदानम्—

बहुसङ्करसंभोग-प्रक्लिन्नेन्द्रियया पुमान् ।
स्त्रिया संगम्य संमूढो गदमाप्नोति दारुणम् ॥ २९८ ॥

जो मूर्ख, अनेक पुरुषों से संभोग होने के द्वारा क्लेदित योनिवाली स्त्री से संभोग करता है, उसको यह दुःखदायी औपसर्गिक मेह नाम का रोग होता है ॥२९८॥

अथास्य व्युत्पत्तिः—

मूत्रनाड्यन्तरस्थाना त्वगस्य श्लेष्मवाहिनी ।
व्रणिता वाऽऽहरेत् क्लेदं व्रणमेहः स उच्यते ॥ २९९ ॥
औपसर्गिकमेहश्च तस्य नामान्तरं मतम् ।
मेह आगन्तुकश्चापि स कैश्चित्परिभाष्यते ॥ ३०० ॥

जिस रोगमें मूत्रनाडी के बीच की चमड़ी जो कफ को वहन करती है वह व्रण युक्त होकर घाव में से लसापन पानी को निकाले, उसे व्रणमेह और औपसर्गिक मेह कहते हैं। इसी रोग को बहुतेरे वैद्य आगन्तुक मेह भी कहते हैं ॥ २९९–३०० ॥

अथास्योत्पत्तिकालः—

आरभ्य संगमनिशां संख्यया या च सप्तमी ।
एतद्व्यवहिते काले प्रायशो जायते गदः ॥ ३०१ ॥

यह औपसर्गिक मेह रोग उक्त स्त्री से संग की रात से लेकर प्रायः सात रात के अन्दर में हुआ करता है ॥ ३०१ ॥

अथास्य लक्षणम्—

कण्डूः शिश्नाग्रतस्तस्य समुत्थानं मुहुर्मुहुः ।
तीव्रवेदनया चापि मुहुर्मूत्रप्रवर्त्तनम् ॥ ३०२ ॥
स्फीतिर्लिङ्गस्य लौहित्यं कोषे वध्ने च वेदना ।
कदाचित्क्लेदसंरुद्ध–मार्गत्वादतिरुक् स्रवेत् ॥ ३०३ ॥
मूत्रं दाहेन घोरेण द्विधारं वा प्रवर्त्तते ।
स्रवेद्वा क्षतजं मेढ्रा–न्मूत्रकाले कदाचन ॥ ३०४ ॥
संततं तनुरास्रावः स्रवेदादौ ततोऽतनुः ।
स तावत्पुनराशुष्यन् पीतिमानं प्रयाति च ॥ ३०५ ॥
कालो लघ्वीं व्यथां कुर्यात् व्याधिं च दुष्प्रतिक्रियाम् ।
आमवातादिरोगाद्या ज्ञेयाश्चास्य ह्युपद्रवाः ॥ ३०६ ॥

जिस रोग में लिङ्गाग्र में खुजलाहट, बारंबार लिङ्ग का उठना और अधिक पीड़ा के साथ बारंबार पेसाब होना, ये सब होवें। एवम् लिङ्ग का विकास, लिङ्गाग्रमें लाली, अंडकोश और जंघा के मूल में दर्द, कभी२ मवाद द्वारा रास्ता की रुकावट से अधिक दर्द और जलन के साथ पेसाब उतरे अथवा मूत्र की धारा दो होते हुए उपर्युक्त लक्षण होवें या कभी २ पेसाब के समय लिङ्ग से खून आवे, बारंबार पेसाब में लज्झा आवे जो पेसाब के शुरू में पतला और अन्त में गाढ़ा होवे और सूखने पर पीला मालूम पड़े, उसे औपसर्गिक मेह रोग कहते हैं। इस रोग में थोड़ी देर दर्द होता है। यहः दुःसाध्य रोग होता है। इस रोग के आमवात और नेत्र रोग आदिक उपद्रव होते हैं॥ ३०२-३०६॥

विशेषभाषा-इङ्गलिश Seyuntorabul सीयनट्रौबुल। मैथिली-संगप्रमेह। हिन्दी-सोहबत का प्रमेह। संस्कृत-औपसर्गिकमेह, व्रणमेह।

अथौपसर्गिकमेहस्य चिकित्सा—

व्रणमेही त्यजेद्यत्ना-द्व्यवायं सोऽहितो यतः।
स्त्रियाश्च परिभुक्ताया आमयं जनयेच्च तम्॥ ३०७॥

व्रणमेह का रोगी स्त्रीप्रसंग न करे क्योंकि वह अहितकर होता है। और व्रण-मेही के साथ प्रसंग करने वाली स्त्री भी व्रणमेहवाली हो जाती है॥ ३०७॥

भेषजं पानमन्नं च निषेवेतानुलोमनम्।
व्रणघ्नं मूत्रजननं क्रियामुग्रां विवर्जयेत्॥ ३०८॥

वातका अनुलोमनकारक-दवा, अन्न और पान का प्रयोग व्रणमेहमें करना चाहिए तथा व्रणनाशक और मूत्रोत्पादक क्रियाओं को करे। एवं तीक्ष्ण क्रिया को छोड़ देना चाहिए॥ ३०८॥

कोष्णे जात्या वराया वा क्वाथे शिश्नं निमज्जयेत्।
वेदनोपशमस्तेन व्याधेश्च बलसंक्षयः॥ ३०९॥

चमेली अथवा शतावरी के ईषत् गर्म क्वाथ में लिङ्ग को डुबाकर रक्खे। इससे व्यथाकी शान्ति और बीमारी की कमी होती है॥ ३०९॥

आभानिर्य्यासतोयञ्च यवक्षारयुतं पिबेत्।
सजलं क्षीरमामं वा व्रणमेहनिवृत्तये॥ ३१०॥

व्रणमेह के विनाशार्थं बबूर के गोंद को जल में घोल कर उसमें जवाखार मिलाकर पीवे अथवा गाय के कच्चे दूध में पानी मिलाकर पीवे॥ ३१०॥

पिबेद्वा सारिवाक्वाथं सक्षारं नरसारकम्।
श्यामामनन्तां कट्वीञ्च बीजं गोक्षुरसंभवम्॥ ३११॥

व्रणमेह के विनाशार्थं अनंत मूल के क्वाथ में यवाखार और नौसादर मिलाकर पीवे।

अथवा निमाथ, अनंतमूल, कुटकी और गोखरू का बीज इनका हिम बनाकर पीवे ३११

गन्धाश्मनरसाराभ्यां क्वाथयित्वा जलं पिबेत् ।
एकं सुरप्रियफलं मेहमागन्तुकं हरेत् ॥ ३१२ ॥

गन्धक और नौसादर का क्वाथ व्रणमेह में पीवे, अथवा सिर्फ अगस्त्य की छीमी का क्वाथ व्रणमेह को नष्ट करता है ॥ ३१२ ॥

वराऽऽभापिप्पलीनां च व्रणमेहनिवृत्तये ।
कुर्य्यादुत्तरबस्तिं च कषायेण प्रयत्नतः ॥ ३१३ ॥

व्रणमेह के विनाशार्थ शतावरी, बबूर और पीपल के क्वाथ से उत्तर बस्ति देनी चाहिए ॥ ३१३ ॥

महाभ्रवटिका—

त्रिः सप्तकृत्वः संभाव्य भृङ्गराजाम्भसाऽभ्रकम् ।
तेन गन्धं रसं लौहं हेम चार्द्धार्धसम्मितम् ॥ ३१४ ॥
वराक्वाथेन संमर्द्य वटिकां रक्तिकोन्मिताम् ।
औपसर्गिकमेहस्य नाशाय दापयेद्भिषक् ॥ ३१५ ॥

अभ्रभस्म में भंगरैया के रस की २१ भावना देकर इस अभ्रभस्म को एवम् शुद्ध गंधक, शुद्धपारा, लौहभस्म और सोनाभस्म प्रत्येक आधा भाग लेकर सबों को एकत्र कर शतावरी के क्वाथ में खरलकर १ रत्ती की गोलियाँ बनाकर इसकी १ गोली शतावरी के क्वाथ के साथ दोनो समय वैद्य औपसर्गिक मेह के विनाशार्थ सेवन करावे ॥ ३१४-३१५ ॥

कन्दर्परसः—

रसो गन्धः प्रवालञ्च काञ्चनं गिरिमृत्तिका ।
वैक्रान्तं रजतं शङ्खं मौक्तिकं च समं समम् ॥ ३१६ ॥
न्यग्रोधस्य कषायेण भावयित्वा च सप्तधा ।
वल्लोन्मानां वटीं कृत्वा त्रिफलाक्वाथवारिणा ॥ ३१७ ॥
सुरप्रियस्यार्जुनस्य क्वाथेनाभाऽम्भसाऽपि वा ।
औपसर्गिकमेहस्य शान्त्यर्थं विनियोजयेत् ॥ ३१८ ॥

शुद्ध पारा, शुद्ध गंधक, मूँगाभस्म, सोनाभस्म, शुद्धगेरू, वैक्रान्त भस्म, चान्दी-भस्म, शङ्खभस्म और मोतीभस्म प्रत्येक समान भाग लेकर वटवृक्ष के क्वाथ की सात भावनायें देकर १ वल्लकी गोली बना लेवे। इसकी १-१ गोली दोनों समय त्रिफला के क्वाथ अथवा अगस्त्य के क्वाथ किंवा अर्जुन के क्वाथ या बबूर के क्वाथ के साथ औपसर्गिक मेह के विनाशार्थ सेवन करना चाहिए ॥ ३१६-३१८ ॥

इत्यौपसर्गिकमेहाधिकारः समाप्तः ॥ १४ ॥

अथौजोमेहाधिकारः ॥ १५ ॥

अथौजोमेहनिदानम्—

अभिघाताग्निमान्द्याम-वाताजीर्णविसूचिका-।
विषमज्वरशोथाद्यै-र्यक्ष्मकासादिभिस्तथा ॥ ३१९ ॥
वृक्कयोः शोणितस्रोतो-विकृतेरस्रदोषतः ।
लसिकाशुक्रपूयास्रै-र्युक्ते मूत्रे तथा नृणाम् ॥ ३२० ॥
स्त्रीणां गर्भागमे चैव कटुकक्षारवर्जितैः ।
मधुरौजस्करद्रव्य-भक्षणैरतिमात्रतः ॥ ३२१ ॥
गुरुपर्युषितानां च भोजनादतिभोजनात् ।
नवधान्यादिगोधूम-हंसडिम्बातिसेवनात् ॥ ३२२ ॥
दूषिते शीतले तोये स्नानपानावगाहनात् ।
एभिर्निदानैरन्यैश्च दूषितादोजसो भवेत् ॥ ३२३ ॥
ओजोमेहः स विज्ञेय आयुर्बलनिकृन्तनः ।
शारीरिकश्रमवशा-त्तथाऽन्येनैव हेतुना ॥
द्रुतं शोणितसंचारात् प्रकृतेश्च विपर्ययात् ॥ ३२४ ॥

चोट लगने से, मन्दाग्नि, आमवात, अजीर्ण, हैजा, विषम ज्वर और सूजन आदिक रोगों से, यक्ष्मा और खासी आदिक से, दोनों वृक्कों में रक्तवाहक नाड़ी का मुख खुलनेसे, खूनकी खराबी से, लाक्षा, शुक्र, पीब और खून का मूत्र के साथ आने से, स्त्रियों के गर्भ होने पर कड़वा और नमकीन को न खाने से, अधिक मधुर ओजोवर्धक पदार्थ को अधिक खाने से, भारी और बासी अन्न को खाने से, अधिक खाने से, नया धान आदिक, गेहूँ, और हंस के अण्डे को अधिक खाने से, खराब और ठंडे पानी में स्नान करने, पानी पीने और अधिक देर तक घुस कर स्नान करने से, इन कारणों से तथा अन्य कारणों से भी ओजके खराब हो जाने से, शारीरिक मिहनत करने से तथा और २ कारणों से खूनका अधिक दौरान होने से और प्रकृति के बदल जाने से आयु और बलको घटाने वाला ओजोमेह नाम का रोग होता है ॥३१९-३२४॥

अथौजोमेहस्य लक्षणम्—

ओजोविकृतिमापन्नं हंसाण्डश्वेतभागवत् ॥ ३२५ ॥
पिष्टतण्डुलवद्वाऽथ सह मूत्रेण संस्रवेत् ।
मेदः क्षयो भवेत्तत्र ज्वरारोचकयोस्तथा ॥ ३२६ ॥

पूर्वोक्त कारणों से ओजके खराब होजाने पर हंस के अण्डे के श्वेत भाग के समान

स्वच्छ अथवा चावल की पीठी के समान ओज पेशाब के साथ निकलता है। इस रोग में मेदा की कमी, ज्वर और अन्न में अरुचि होती है ॥ ३२२-३२६ ॥

अथास्यासाध्यकष्टसाध्ययोर्लक्षणम्—

शोथेऽग्निमान्द्ये सञ्जाते गदोऽसाध्यो न संशयः ।

अन्यथा कृच्छ्रसाध्योऽसौ यत्न जीवति मानवः ॥ ३२७ ॥

ओजोमेह रोग में सूजन और मन्दाग्नि हो जाने पर निःसन्देह असाध्य अन्यथा कष्टसाध्य समझना चाहिए। इस रोग में अत्यन्त यत्न करने से मनुष्य जीता है ॥३२७॥

विशेषभाषा—इङ्गलिश-Albuminuria (एल्ब्यूमिनूरिआ)। मैथिली—बलप्रमेह। हिन्दी—ताकतीमेह। संस्कृत—ओजोमेह।

अथौजोमेहस्य चिकित्सा—

विचार्य दोषदूष्यादीन् निदानं परिवर्जयेत् ।

चिकित्सेत गदाक्रान्तं दोषदूष्यानुसारतः ॥ ३२८ ॥

ओजोमेह में दोष और दूष्य की भली भांति परीक्षा कर उक्त रोगोत्पादक पदार्थों को छोड़ते हुए इस रोग की दवा दोष और दूष्य के अनुसार करनी चाहिए ॥३२८॥

अयःप्रधानमगदं हितमत्र विशेषतः ।

वर्जनीयं रसोद्भूत-मौषधं हितमिच्छता ॥

ओजोह्रासजदौर्बल्यं दूरीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ ३२९ ॥

ओजोमेह रोग में लौह भस्म घटित दवा विशेष गुणकारक होती है। आरोग्यता को चाहने वाला रोगी इस रोग में पारा घटित दवाओं को छोड़ देवे और ओज की कमी से हुई दुर्बलता को यत्न से हटाना चाहिए ॥ ३२९ ॥

चन्दनादिक्वाथः—

चन्दने नलदं द्राक्षा गुडूची मधुकं स्फटी ।

धात्री च क्वाथ एतेषा-मोजोमेहोपशान्तिकृत् ॥ ३३० ॥

दोनों चन्दन, खस, दाख, गुरुच, जेठीमधु, फिटकरी और आंवरा इनका क्वाथ ओजोमेह रोग को नष्ट करता है ॥ ३३० ॥

तथा हारिद्रमाञ्जिष्ठे मेहादीनां परौषधम् ।

सोपद्रवाणां कथितः कृपाऽऽर्द्रेणैव शम्भुना ॥ ३३१ ॥

हल्दी और मजीठ ये उपद्रव युक्त मेहादि रोगों के लिए दयायुक्त शम्भु से उत्तम दवा कही गई है ॥ ३३१ ॥

अजमोदाऽऽदिचूर्णम्—

अजमोदाऽमृता शुण्ठी गुडूची त्रिफला त्रिवृत् ।

बीजं गोक्षुरजं दारु-निशा श्यामा नृसारकम् ॥ ३३२ ॥
चूर्णमेषां माषमितं सेवितं यत्नतो हरेत् ।
ओजःपिष्टादिजान्मेहान् द्रुतं भास्वान्यथा तमः ॥ ३३३ ॥

वनजमाइन, आंवला, सोंठ, गुरिच, त्रिफला, निसोथ, गोखरू का बीज, दारुहल्दी, अनन्तमूल और नौसादर इनके समान भाग का १ मासा चूर्ण दोनों समय सेवन करने से शीघ्र ओजोमेह और पिष्टमेह आदिक रोगों को उसी तरह नष्ट करता है जैसे सूर्य्य अन्धकार को ॥ ३३२-३३३ ॥

दाडिमाद्यं घृतं चन्द्र-प्रभा नामवटी तथा ।
मुक्ता वङ्गेश्वरश्चैव वसन्तकुसुमाकरः ॥ ३३४ ॥
चन्दनाद्यासवोऽरिष्टो देवदारुसमुद्भवः ।
प्रमेहमिहिरं तैलं तथा मेहाधिकारिकम् ॥ ३३५ ॥
अगदं चात्र युञ्जीत नित्यं कुशलमिच्छता ॥ ३३६ ॥

ओजोमेह रोग में यश को चाहने वाला वैद्य दाडिमादिघृत, चन्द्रप्रभावटी, मोती भस्म, वङ्गेश्वर रस, वसंत कुसुमाकर रस, चन्दनासव, देवदार्वाद्यरिष्ट, प्रमेहमिहिर-तेल और प्रमेहाधिकारोक्त औषध, इन का अवश्य सेवन करावे ॥ ३३४-३३६ ॥

चन्दनाद्यासवः—

चन्दने सरलं देव-दारु दारुनिशा निशा ।
त्रिवृच्चित्रकमूलञ्चा-गुरु धात्री सुरप्रियम् ॥ ३३७ ॥
शतमूल्यश्मभिद्वासा त्वचञ्च सारिवाद्वयम् ।
लक्ष्मणायास्तथा मूलं वावरीवरुणत्वचौ ॥ ३३८ ॥
प्रत्येकं पलिकं ज्ञेयं द्राक्षायाः पलविंशकम् ।
धातकीं षोडशपलां तुलामानां सितां तथा ॥ ३३९ ॥
माक्षिकार्धपलं सर्वं जलद्रोणद्वये क्षिपेत् ।
मासमेकं भाण्डमध्ये सपिधाने निधापयेत् ॥ ३४० ॥
चन्दनासव इत्येष रोगानीकनिकृन्तनः ।
शुक्रदोषं रजोदोषं मूत्रदोषं सुदारुणम् ॥ ३४१ ॥
निहन्ति विविधान् रोगान् कृच्छ्रमष्टविधं तथा ।
चतस्रश्चाश्मरीस्तद्व-न्मूत्राघातांस्त्रयोदश ॥ ३४२ ॥
अन्त्रवृद्धिं पाण्डुरोगं कामलाञ्च हलीमकम् ।
कासं श्वासं तथा कुष्ठ-मग्निमान्द्यमरोचकम् ॥ ३४३ ॥

औपसर्गिकमेहांश्च नाशयेदविकल्पतः ।
भाषितः श्रीमहेशेन लोकानां हितकारिणा ॥ ३४४ ॥

दोनों चन्दन, धूपसरल, देवदारु, दारुहल्दी, हल्दी, निशोथ, चिताकी जड़, अगर, आंवरा, अगस्त्यवृक्ष का फूल, शतावरी, पथरचूर, अडूसा, दोनों अनन्तमूल, लक्ष्मणा, बबूर और बरुण के छाल ये प्रत्येक एक एक पल, दाख २० पल, धायके फूल १६ पल, चीनी १ तुला (१०० पल) और मधु आधापल लेकर दो द्रोण पानी के साथ मटके में रख कर मटके का मुख बन्द कर १ महीना तक रक्खे । तब चन्दनासव नामकी दवा तैयार होगी । यह दवा वीर्य्यके रोग, स्त्रियों के रज के रोग, कष्टदायक मूत्र के रोग, अनेकों (२० प्रमेह रोग, ८ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र, ४ प्रकार के अश्मरी, १३ प्रकार के मूत्राघात, अन्त्रवृद्धि, पाण्डु, कामला, हलीमक, खांसी, श्वास, कुष्ठ, मन्दाग्नि, अरुचि और औपसर्गिक प्रमेह रोग शीघ्र नष्ट होता है । लोगों के उपकारार्थ इसे श्रीमहादेवजीने कहा है ॥ ३३८-३४४ ॥

ओजोमेहरोगे पथ्यापथ्यम्—

लघु बल्यं पुराणञ्च धान्यमुद्गयवादिकम् ।
वार्त्ताकुञ्च पटोलञ्च काकोदुम्बरकं तथा ॥ ३४५ ॥
कारवेल्लादिकं शस्तं वर्जयेन्मधुरं गुरु ।
मांसं मत्स्यान् तथाऽध्वान-मातपाग्निनिषेवणम् ॥
दूषितातिशीततोये स्नानपानावगाहनम् ॥ ३४६ ॥

ओजोमेह रोग में हलका और ताकतवर पदार्थ, पुरान धान, मूंग, जौ आदिक, भण्टा, परवल, काकोदुम्बर फल (अञ्जीर) और करेला ये पथ्य हैं । मीठा, भारी पदार्थ, मांस, मछली, राह का चलना, धूप और आग का तापना, दूषित तथा शीत जल से स्नान, पान और अवगाहन, ये अपथ्य हैं । अतः इन्हें ओजोमेहमें छोड़ देना चाहिये ३४५-३४६

इत्योजोमेहाधिकारः समाप्तः ॥ १५ ॥

अथ शीर्षाम्बुरोगाधिकारः ॥ १६ ॥

अथ शीर्षाम्बुरोगस्य निदानसंप्राप्ती—

मद्यातिपानादतिशैत्ययोगा-द्विरुद्धभोज्यादनिलप्रदोषात् ।
दुष्टाम्बुपानादभिघाततश्च तथाऽन्त्रमध्ये क्रिमिसम्भवाच्च ॥३४७॥
शिरोगतस्नेहवृतौ क्रमेण सञ्चीयते तोयमविप्रभूतम् ।
शीर्षाम्बुनामा गद एष पूर्वैः प्रकीर्त्तितः कृच्छ्रतरो भिषग्भिः ॥३४८॥
प्रायशः शैशवे व्याधि-र्विविधाहितसेवनात् ।
तथा दन्तोद्गतेरेष बाहुल्येनाभिजायते ॥ ३४९ ॥

अधिक शराब पीने और ठंढी लगने से, विरुद्ध भोजन करने से, वात के दुष्ट होने से, खराब पानी पीने से, चोट आदि के लगने से, आंतमें कीड़े पड़जाने से और मस्तक के स्नेह स्थान में क्रमिक पानी अत्यन्त संचित हो जाता है। उसे शीर्षाम्बुरोग कहते हैं। वैद्यों ने इसे कष्टसाध्य रोग कहा है। अपथ्य पदार्थों को खाने से और दांत आने के समय में यह रोग लड़कपन में प्रायः अधिकतर हुआ करता है॥ ३४७-३४९॥

अथ शीर्षाम्बुरोगस्य पूर्वरूपम्—

जिह्वा लिप्ताऽतिनिद्रत्वं दौर्बल्यं श्वासपूतिता।
गाढविट्ता च तस्मिंस्तु भविष्यति भविष्यति॥ ३५०॥

मलापन से लभरी हुई जिह्वा (जीभ), अधिक नींद, कमजोरी, श्वास में बदबू और पैखाने में कड़ापन ये लक्षण होने से शीर्षाम्बु रोग पैदा होगा, यह समझना चाहिये॥ ३५०॥

अथ शीर्षाम्बुरोगस्य लक्षणम्—

शिरसो वेदना घोरा श्रुतिर्दृष्टेश्च तीक्ष्णता।
मूत्राल्पत्वं कृष्णविट्त्वं धमनी वेगवाहिनी॥ ३५१॥
त्वग्रूक्षोष्णा तथा च्छर्दि-र्विषमा च कनीनिका।
कोपित्वं मुखवैवर्ण्यं निद्रायां दन्तहर्षणम्॥ ३५२॥
कण्डूरोष्ठस्य नासाया आक्षेपो रक्तनेत्रता।
पक्षाघातः प्रलापश्च शीर्षाम्बुगदलक्षणम्॥ ३५३॥

शिर में असह्य दर्द, कानों और आंखों में तेजी, पेसाब की कमी, पैखाना काला, नाड़ी की गति में अधिकता, चमड़े में खरखरापन तथा उष्णता, आंखों का छोटा बड़ा होना, क्रोध, मुख बदसूरत, नींद में दांतों का सिहरना, वदन में खुजलाहट, ओठ और नाक फरकना, आंखों में लाली, पक्षाघात रोग और प्रलाप ये शीर्षाम्बु रोग के लक्षण हैं॥ ३५१-३५३॥

विशेषभाषा—इङ्गलिश-Meningitis मेनिनजाइटिस। मैथिली-माथक-जल। हिन्दी-माथेका पानी। संस्कृत-शीर्षाम्बु।

अथ शीर्षाम्बुरोगस्य चिकित्सा—

भेषजं रेचनं यच्च यन्मूत्रस्य प्रवर्त्तनम्।
रक्तदोषहरं यच्च तच्छीर्षाम्बुगदे शुभम्॥ ३५४॥

शीर्षाम्बु रोग में दस्तावर, मूत्रोत्पाद और खूनसफो जो दवाएँ हों उन्हें देनी चाहिए॥ ३५४॥

मुण्डयित्वा शिरस्तस्य छादयेदुष्णवाससा ।
पाययेन्नारिकेलस्य स्नेहञ्चापि निरन्तरम् ॥ ३५५ ॥

शीर्षाम्बु रोग में रोगी का शिर मुड़वा कर गरम कपड़े से पुनः ढाक कर उसे बारम्बार नारियल का तेल पिलाना चाहिए ॥ ३५५ ॥

सेवयेद्रसचूर्णञ्च स्तोकमात्रं विचक्षणः ॥ ३५६ ॥

वैद्य शीर्षाम्बुरोग के रोगी को अल्प मात्रा में पूर्वोक्त रसचूर्ण का सेवन करावे ३५६

अथ पीतमूल्यादिक्काथः—

पीतमूलीं त्रिवृच्छ्चाने पथ्यामामलकीं शटीम् ।
अनन्तां मधुकं मुस्तां धन्याकं कटुरोहिणीम् ॥ ३५७ ॥
हरिद्रे द्वे त्रिजातञ्च क्वाथयित्वा यथाविधि ।
यवक्षारेण सहितं पाययेदस्य शान्तये ॥ ३५८ ॥

रेवठचीनी, निसोथ, अनन्तमूल, हरें, आंवरा, कचूर, अनन्तमूल, जेठीमधु, नागरमोथा, धनियां, कुटकी, चिरैता, दोनों हल्दी और त्रिजातक (१) इनके समान भाग का क्वाथ बनाकर उस में जवाखार मिला कर शीर्षाम्बु रोग के शान्त्यर्थ पिलाना चाहिए ॥ ३५७–३५८ ॥

अथ सलिलशोषणं चूर्णम्—

रसचूर्णं यवक्षारं पीतमूलीं त्रिजातकम् ।
भार्गीमेलां तथा लघ्वी–मभयामिन्द्रवारुणीम् ॥ ३५९ ॥
समांशेन प्रगृह्याथ प्रयुञ्ज्यात्पयसा सह ।
शीर्षाम्ब्वेतन्निराकुर्य्या-च्चूर्णं सलिलशोषणम् ॥ ३६० ॥

पूर्वोक्त रसचूर्ण, जवाखार, रेवठचीनी, त्रिजातक, भारङ्गी, छोटी इलाइची, छोटी हरें और इन्द्रायण इनके समान भाग का चूर्ण दूध के साथ खाने से यह सलिलशोषण नाम का चूर्ण शीर्षाम्बु रोग को दूर करता है ॥ ३५९–३६० ॥

कुङ्कुमाद्यं घृतम्—

कुङ्कुमं शारिवां द्राक्षां जीवन्तीमभयां विडम् ।
पत्रं पटोलमूलं च सर्पिषा पाचयेद्भिषक् ॥ ३६१ ॥
अस्य मात्रां प्रयुञ्जीत वीक्ष्य व्याधेर्बलाबलम् ।
सर्वाञ्छीर्षगदान् हन्यात् कुङ्कुमाद्याभिधं घृतम् ॥ ३६२ ॥

केसर, अनन्तमूल, दाख, जीवन्ती, हरें, वायभिरङ्ग, तेजपत्ता और परवल की जड़ इनके समान भाग का कल्क देकर वैद्य विधिपूर्वक घृत तैयार कर बीमारी और

---

(१) त्रिजातक (दालचीनी, इलायची, तेजपात)।

रोगी का बलाबल विचार कर मात्रा से सेवन कराने पर यह कुङ्कुमाद्य घृत सभी प्रकार के मस्तकके रोगों को हटाता है ३६१-३६२ ॥

अथ रसतैलम्—

धुस्तूरं धातकीं मूर्वां मधूकं मधुकं विडम् ।
नागरं नीलिनीं कृष्णां कट्फलं कटुकं जलम् ॥ ३६३ ॥
शाणमानेन निःक्षिप्य कटुतलशरावके ।
संवृते मृण्मये पात्रे निशाः सप्त च यापयेत् ॥३६४॥
ततः कल्कान् विनिर्हृत्य कज्जलीमर्द्धकार्षिकीम् ।
तत्र संमिश्रच शिरसि मुण्डिते तत्प्रयोजयेत् ॥ ३६५ ।
रसतैलमिदं हन्या-च्छोर्षाम्ब्वाशु न संशयः ।
व्याधितानां हितार्थाय हरेणैतत्समीरितम् ॥ ३६६ ॥

धतूर, धायकेफूल, मूर्वा, महुये की छाल, जेठीमधु, वायविङ्ग, नागरमोथा, लील, पीपल, कायफल, कुटकी और बालछर इनको एक २ शाण लेकर और १ शराव सरसो का तेल लेकर सबों को मिट्टीके वर्तन में रखकर वर्तन का मुख बन्द कर ७ दिन तक रखकर बाद तेलमें से कल्क को निकाल कर समान भाग गन्धक और पारे की कज्जली १ कर्ष उस तेल में मिलाकर रोगी के शिरका बाल मुड़वाकर शिर में उक्त तेल को मलवाने से शीर्षाम्बु रोग अवश्य नष्ट होता है । इस रसतेल को श्रीमहादेवजी ने लोगों के कल्याणार्थ बनाया ॥ ३६३-३६६ ॥

वह्निभास्करो रसः—

सुवर्णमभ्रं वैक्रान्तं रजतं शाणमानकम् ।
लौहं रसं गन्धकं च माक्षिकं कर्षसंमितम् ॥ ३६७ ॥
रक्तचित्रकतोयेन तथा ब्राह्मीरसेन च ।
त्रिःसप्तकृत्वः संभाव्य कुर्य्याद्वल्लमिता वटीः ॥ ३६८ ॥
रसोऽयं सर्वथा हन्ति मस्तिष्कोदकमाशु च ।
अन्यांश्च शिरसो रोगान् वह्निस्तृणगणानिव ॥ ३६९ ॥
वह्निवद्भासते यस्मा-द्वीर्य्येणैव रसोत्तमः ।
ख्यातः पृथ्वीतले तस्मा-दाख्यया वह्निभास्करः ॥ ३७० ॥

सोना भस्म, अभ्रभस्म, वैक्रान्तभस्म और चान्दीभस्म, प्रत्येक १-१ शाण, लौहभस्म, शुद्ध पारा, शुद्धगंधक, और शुद्ध सोनामक्खी प्रत्येक १-१ कर्ष लेकर लालचीता के रस और ब्राह्मी के रस की २१ भावना देकर १ वल्लकी गोली बनालेवे। यह वह्निभास्कर रस शीर्षाम्बुरोग को शीघ्र नष्ट करता है। तथा अन्यान्य शिरोरोगों

को भी वैसे नष्ट करता है जैसे खर को आग। जिस लिए यह रस वीर्य से अग्नि के समान शोभित होता है अतः इसका नाम "वह्निभास्कर रस" रक्खा गया ॥३६७-३७०॥

नैवं शान्ति गते व्याधौ मस्तिष्कात्सलिलं हरेत्।
त्रिकूर्चकेन लघुना यत्नतः कुशलो भिषक् ॥ ३७१ ॥

इस प्रकार से उक्त चिकित्साओं से यदि शीर्षाम्बु रोग न छूटे तो चतुर वैद्य छोटे "त्रिकूर्चक" नामक शस्त्र द्वारा मस्तिष्क से पानी को निकाल देवे ॥ ३७१ ॥

अथ शीर्षाम्बुरोगे पथ्यापथ्यम्—

लघु पुष्टिकरं सर्वं पानमन्नं रसञ्च यत्।
मस्तिष्काम्बुनि तत्पथ्यं विपरीतं हिताय न ॥ ३७२ ॥

हलका और शरीरपुष्टिकारक सारा भोजन-पानी और रस शीर्षाम्बुरोग में पथ्य है और इनके विरुद्ध अपथ्य होता है ॥ ३७२ ॥

इति शीर्षाम्बुरोगाधिकारः समाप्तः ॥ १६ ॥

अथ मस्तिष्कवेपनाधिकारः ॥ १७ ॥

अथ मस्तिष्कवेपनस्य निदानलक्षणे—

शिरस्यभिहते तैस्तैः-मूर्च्छाहृल्लासवान्तयः।
जडत्वं स्पन्दनं ह्रासो दौर्बल्यं चलचित्तता ॥ ३७३ ॥
वेपथुः कर्णनादश्च मलिनत्वं मुखस्य च।
पृथुत्वं तारकायाश्च धमनी बलवर्जिता ॥ ३७४ ॥
शीतलत्वं शरीरस्य वैकृत्यं वचनस्य च
तथा पक्षवधः स्याच्च गदोऽसौ शीर्षवेपनः ॥ ३७५ ॥

माथे में चोट लगने से शीर्षवेपन नाम का रोग होता है। इस रोग में मूर्च्छा, जी मिचलाना, कै, शरीर का जकड़ना या फरकना, शरीर का ह्रास, दुर्बलता, मनमें चंचलता, शरीर का कम्पन, कान में आवाज, मुख पर उदासी, आंखों के काले बिन्दुओं में मोटापन, नाड़ी में ताकत की कमी, शरीर हमेशा ठंढा, बोली में थर्रापन और पक्षाघात की बीमारी ये लक्षण होते हैं ॥ ३७३-३७५ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश–Infantile Hemiplegia इन्फान्टील हैमोप्लीजिया। मैथिली–माथकम्प। हिन्दी–शिरकंपन। संस्कृत–मस्तिष्कवेपन।

अथ मस्तिष्कवेपनस्य चिकित्सा—

मनःस्थैर्यकरं कर्म्म कार्य्यं मस्तिष्कवेपने।
शिरस्युष्णेऽतिशीतेन तोयेन सेचनं हितम् ॥ ३७६ ॥

मस्तिष्कवेपन रोग में मन को स्थिर करने वाली सारी क्रियायें होनी चाहिए और शिर गरम हो जाने पर ठंढा पानी से उस पर सेचन करना चाहिए ॥ ३७६ ॥

मस्तिष्कवेपनध्वंसि दन्तीस्नेहेन रेचनम् ।
सजला बललाभाय मृतसंजीवनी सुधा ॥ ३७७ ॥
प्रयोक्तव्या यथामात्रं बल्यमन्यच्च भेषजम् ।
वह्नुष्णा हरेच्छैत्य-मङ्गानां कुशलो भिषक् ॥ ३७८ ॥

मस्तिष्कवेपन रोग का नाशकारक जमालगोटे के तेल से दस्त करवाना चाहिए और ताकत के लिए मृतसंजीवनी सुरा को पानी में मिलाकर देना चाहिए। तथा चतुर वैद्य आग के सेक से शरीर की ठंढी को दूर करे ॥ ३७७-३७८ ॥

हरिद्राऽऽदिक्काथः—

हरिद्रे द्वे नागरञ्च त्रिफलां कटुरोहिणीम् ।
क्वाथयित्वा प्रयोक्तव्यं शीर्षवेपनशान्तये ॥ ३७९ ॥

दोनो हल्दी, सोंठ, त्रिफला और कुटकी इनके समभाग का क्वाथ बनाकर मस्तिष्कवेपन रोग के विनाशार्थ प्रयोग करना चाहिए ॥ ३७९ ॥

बलाक्वाथेन सिन्दूरं शीर्षवेपथुनाशनम् ।
वातव्याधिहरं सर्वं भेषजं तस्य शान्तिकृत् ॥ ३८० ॥

बरिआरा के क्वाथ के साथ सिन्दूर रस के सेवन से मस्तिष्कवेपन रोग नष्ट होता है और वातव्याधिनाशक सारी दवायें भी मस्तिष्कवेपन रोग के नाशक हैं ॥३८०॥

मस्तिष्कवेपनरोगे पथ्यापथ्यम्—

पयोमांसरसाद्यञ्च स्नायूनां बलवर्धनम् ।
अन्नपानादिकं यच्च सुजरं स्वादुसारकम् ॥ ३८१ ॥
शीर्षवेपथुरोगिभ्यो हितं तन्निखिलं मतम् ।
विपरीतं विजानीयान् कदा चन न शर्म्मदम् ॥ ३८२ ॥

दूध, मांस का रस आदिक स्नायुओं के लिये बलवर्द्धक, शीघ्र पचनशील, मीठा तथा मल निकालने वाला पदार्थ भोजन और पान में मस्तिष्कवेपन रोग के लिये पथ्य है और इनके विपरीत अपथ्य है ॥ ३८१-३८२ ॥

इति मस्तिष्कवेपनाधिकारः समाप्तः ॥ १७ ॥

अथ मस्तिष्कचयापचयाधिकारः ॥ १८ ॥

अथ मस्तिष्कचयापचयनिदानम्—

देहस्वभावादिष्टया च वर्द्धते मस्तुलुङ्गकः ।

करोटिरपि बालानां यूनां चापि कदा चन ॥ ३८३ ॥
मस्तिष्कस्य करोटेश्च यदि वृद्धिर्द्वयोर्भवेत् ।
न चिह्नं दृश्यते किञ्चित् प्रायशः समवर्द्धनात् ॥ ३८४ ॥
मस्तिष्कस्यैव चेद् वृद्धि-र्न करोटेस्तथा भवेत् ।
तदा निपीडनात्तस्य जायन्ते विविधा रुजः ॥ ३८५ ॥
शिरसोऽतिरुजा तीव्रा दौर्बल्यं भ्रममूर्च्छने ।
पक्षाघातस्तथाऽऽक्षेप-स्ततो मरणमेव च ॥ ३८६ ॥
ह्रासमायाति मस्तिष्कं देहदोषाददृष्टतः ।
एकपार्श्वे ह्रसेत्तच्चे-न्न शीघ्रं जीवनक्षयः ॥
समन्ताद्ध्रसनात्तस्य प्राणान्तस्त्वरया भवेत् ॥ ३८७ ॥

अपने शारीरिक प्रमाण से बालकों और जवानों का भी मस्तिष्क और शिर की हड्डी कदाचित् बढ जाती है । मस्तिष्क और शिर की हड्डी दोनों बढ़ जाय तो वैसी हालत में प्रायः बीमारी का कोई भी चिह्न नहीं पाया जाता है । अगर मस्तिष्क बढ़ जाय और शिरकी हड्डी न बढ़े तो हड्डी के पीड़ित होने से अनेक रोग पैदा होते हैं । उसमें शिर में अधिक दर्द, कमजोरी, भ्रम, मूर्च्छा, पक्षाघात और आक्षेपक वात होता है तथा इन से मृत्यु भी होती है । शारीरिक या दैविक दोष से मस्तिष्क की कमी होती है । यदि एक तरफ के मस्तिष्क की कमी होवे तो शीघ्र मृत्यु नहीं होती और सर्वत्र उसकी कमी होने से शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है ॥ ३८३-३८७ ॥

विशेषभाषा-इङ्गलिश-Cerebral Abscess सेरिबिरल अबसिस । मैथिली-मगजवृद्धिकम । हिन्दी-दिमाग की बढ़ी-घटी । संस्कृत-मस्तिष्कचयापचय ।

अथ मस्तिष्कचयापचयस्य चिकित्सा—

तत्रादौ मस्तिष्कवृद्धेः—

मस्तुलुङ्गस्य संवृद्धि-र्जायते मरणाय हि ॥ ३८८ ॥
नौषधं तत्र चेत्सेव्यं तथाऽपि च रसायनम् ।
पेयमत्र पञ्चगव्यं घृतं मधुयुतं तथा ॥ ३८९ ॥

मस्तिष्क का बढ़ना मृत्यु के लिए ही होता है । इस रोग की कोई दवा नहीं है । यदि है तो रसायन ही है । और इस रोग में अतुल्य घी और मधु मिलाकर पंञ्चगव्य (गायका दूध, दही, घी, गोबर और मूत्र) का सेवन करना चाहिए अथवा पञ्चगव्य घृत खावे ॥ ३८८-३८९ ॥

मस्तिष्कह्रासस्य चिकित्सा—

मस्तिष्कस्य यदि ह्रासो मरणायैव जायते ।

तथाऽप्यत्र सदा सेव्यं भेषजं परिबृंहणम् ॥ ३९० ॥

यद्यपि मृत्युके लिए ही मस्तिष्ककी कमी होती है, तो भी इस रोग में बलबर्धक दवा का सेवन करना चाहिए ॥ ३९० ॥

चन्दनादिक्वाथः—

चन्दनद्वितयं मूर्वा श्यामाद्वन्द्वं निशाद्वयम् ।
लाक्षा·वांशी गैरिकञ्च जीवन्ती मधुकं वरी ॥ ३९१ ॥
वाजिगन्धा वचा कृष्णा काकोली जीवकर्षभौ ।
क्वाथ एषां पिबेत् प्रात-र्मस्तिष्कह्रासशान्तये ॥ ३९२ ॥

दोनो चंदन, मूर्वा, दोनो अनंतमूल, दोनो हल्दी, लाख, वंसलोचन, गेरू, जीवन्ती, जेठीमधु, सतावरी, असगंध, वच, पीपल, काकोली, जीवक और ऋषभक इनका क्वाथ बनाकर मस्तिष्ककी कमी को नष्ट करनेके लिए सुबहमें पिलावे ॥ ३९१—३९२ ॥

अत्र वातामयोक्तानि तैलानि च घृतानि च ।
अपस्मारगदोक्तानि तथा सेव्यानि सर्वदा ॥ ३९३ ॥

मस्तिष्कचयापचय रोगमें वाताधिकारोक्त और अपस्माराधिकारोक्त सारे तेल और घृत का सेवन कराना चाहिए ॥ ३९३ ॥

अथ पथ्यापथ्यम्—

मस्तिष्कस्य चये ह्रासे देहस्य पोषणं लघु ।
पानमन्नं सुखाय स्या-द्विपरीतं न शर्मणे ॥ ३९४ ॥

मस्तिष्क की घटी और बढ़ी में शरीर के लिये पुष्टिकारक, लघु भोजन और पान पथ्य होता है और इसके विपरीत अपथ्य होता है ॥ ३९४ ॥

इति मस्तिष्कचयापचयाधिकारः समाप्तः ॥ १८ ॥

अथांशुघाताधिकारः ॥ १९ ॥

अथांशुघातस्य निदानलक्षणे—

चण्डांशोरंशुना शीर्ष्णि तप्ते चण्डेन जायते ।
अंशुघाताभिधो व्याधिः प्राणिनां प्राणपीडनः ॥ ३९५ ॥
तृष्णाऽतिघोरा त्वग्रूक्षा भ्रमो नेत्रस्य रक्तता ।
मूत्रवेगश्च मूर्च्छायो हृल्लासो विषमा धरा ॥ ३९६ ॥
श्वासकृच्छ्रं स्पर्शहानि-राक्षेपश्चात्र सम्भवेत् ।
प्रायः कारावरुद्धानां भटानां जायते च सः ॥ ३९७ ॥

सूर्य की कड़ी धूप से मस्तक तप जाने पर अंशुघात नाम का रोग होता है। यह

मनुष्यों के प्राण को सङ्कट में डालने वाला है। इस रोग में अधिक प्यास, त्वचा का रूखापन, भ्रम, आंखों में लाली, अधिक पेसाब, मूर्च्छा, जीमिचलाना, नाड़ी की विषम गति, कठिनता से श्वास, स्पर्शशक्ति का नाश और आक्षेपक वात रोग होता है। यह रोग बहुधा जेल के कैदी और सिपाहियों को हुआ करता है ॥ ३९२-३९६

अर्थांशुघातस्यारिष्टलक्षणम्—

नीलिमा हस्तपादस्य धमन्याः त्वरान्तता।
विक्षेपणं च गात्राणां मरणायांशुघातिनः ॥ ३९८ ॥

जिस अंशुघात के रोगी के हाथ और पैर नीले रंग के होजावें और नाड़ी की गति कभी २ गायब और शरीर में फाकन होवे तो वह रोगी अवश्य मर जाता है ॥ ३९८ ॥

विशेषभाषा—इङ्गलिश-Sunstroke सनस्ट्रोक। मैथिली-गर्म वात। हिन्दी-शिरगर्मी। संस्कृत-अंशुघात। बंगला-सर्दीगर्मी।

अथांशुघातस्य चिकित्सा—

अङ्गावरणवासांसि दूरे निःक्षिप्य यत्नतः।
प्रच्छाये प्रवहद्वाते गन्धाढ्ये मनसः प्रिये ॥ ३९९ ॥
विविक्ते व्यक्तनभसि विहङ्गगणनादिते।
शाययेत सुखशय्यायां-मंशुघातिनमञ्जसा ॥ ४०० ॥

अंशुघात के रोगी को शरीर पर से कपड़े हटवाकर एकान्त में जहां मनोह्लादक और सुगंधित हवा जाती हो तथा आकाश दीखता हो एवं जहां चिड़िया बोलती हों ऐसी ठण्डी जगह में सुन्दर बिस्तरे पर सुलाना चाहिए ॥ ३९९-४०० ॥

शीताम्बुसेकं कुर्याच्च चन्दनाम्बु च पाययेत्।
नाधिकं पाययेदम्बु सहसा कुशलो भिषक् ॥ ४०१ ॥

इसके रोगी को ठंडे पानी से सेक (सेचन) करके चन्दन का पानी पिलाना चाहिए और चतुर वैद्य कथमपि सहसा अधिक पानी न पिलावे ॥ ४०१ ॥

आच्छादयेत्सर्वमङ्गं शीततोयार्द्रवाससा।
सहस्रधारया स्नान-मंशुघातगदापहम् ॥
दन्त्युद्भवेन तैलेन रेचनं हितमुच्यते ॥ ४०२ ॥

इसके रोगी के शरीर को ठंडा पानी में कपड़े को भिगोकर उससे ढांक देना चाहिए। और ठंडा पानी के हजारों धारा (फव्वारा) से स्नान अंशुघात रोग को नष्ट करता है। तथा जमालगोटे के तेल से रोगीको पैखाना कराना हितकर होता है॥४०२॥

अत्युष्णेनाम्भसा सिक्तं वस्त्रमूर्णामयं पृथु।

ततो निहृत्य तोयं च श्रीवासपृषतावृतम् ॥ ४०३ ॥
उष्णमेव च घाटायां निधायान्येन वाससा ।
शुष्केण वाऽपि कदली-दलैर्नातिदृढं ततः ॥ ४०४ ॥
बद्ध्वाऽतिदाहं यावच्च संरक्षेदतियत्नतः ॥
अनेन विधिना मूर्च्छा नश्यत्येव हि सत्वरम् ॥ ४०५ ॥

ऊनी कपड़े को गरम पानी में भिगोकर पानी को निचोर कर उसमें तार्पिन के तेल का फुवारा देकर गरम २ गरदन पर रखकर ऊपर दूसरे कपड़े से बांधकर या सूखे कपड़े से अथवा केले के पत्त से बांधकर रक्खे। उसमें ढीला बंधन देना चाहिए। जब तक शरीर में पूरी गर्मी न आवे तबतक रखना चाहिए। इस विधि से अति शीघ्र मूर्च्छा नष्ट होती है ॥ ४०३-४०५ ॥

अङ्गानामुष्मणो नाशे धमन्याश्च व्यतिक्रमे ।
स्वेदो विधेयो योज्या च मृतसंजीवनी सुधा ॥ ४०६ ॥

शरीर की गर्मी के हट जानेपर और नाड़ी की गति का विलोम हो जाने पर स्वेद करना (पसीना निकालना) और मृतसंजीवनी सुधा का प्रयोग करना चाहिए ॥ ४०६ ॥

रत्नेश्वरो रसः—

वज्रं वैक्रान्तमभ्रञ्च सिन्दूरमपि माक्षिकम् ।
मौक्तिकं हेम रौप्यञ्च सममिक्षुजवारिणा ॥ ४०७ ॥
शतावरीरसेनापि विदार्य्याः स्वरसेन च ।
विभाव्य वटिकाः कुर्य्याद्रक्तिकाप्रमिता भिषक् ॥ ४०८ ॥
त्रिफलारसयोगेन रसो रत्नेश्वरो हरेत् ।
मस्तिष्कस्नायुजान् व्याधी-नंशुघातं विशेषतः ॥ ४०९ ॥

वज्रभस्म, वैक्रान्तभस्म, अभ्रभस्म, सिन्दूररस, शुद्ध सोनामक्खी, मोतीभस्म, सोनाभस्म और चान्दीभस्म इनको समान भाग में लेकर ऊख का रस, शतावरी का रस और विदारी कंद के रस की भावना देकर १ रत्ती के प्रमाण से वैद्य गोली बनावे। यह गोली त्रिफला के क्वाथ के साथ सेवन करने से मस्तिष्क का रोग, स्नायु का रोग और विशेष करके अंशुघात रोग को हरण करती है। इसे रत्नेश्वर रस कहते हैं ॥ ४०७-४०९ ॥

अंशुघाते प्रयोक्तव्यो विधिर्मूर्च्छानिसूदनः ॥ ४१० ॥

अंशुघात रोग में मूर्च्छा की सारी दवा लाभदायक है ॥ ४१० ॥

महाशिशिरपानकम्—

शर्करा द्विपलोन्माना चन्दनञ्चार्धकार्षिकम् ।

जम्बीरजश्च पलिको रसो वर्ण्योश्च रसमः ॥ ४११ ॥
शाणञ्च सर्षपतैलं प्रस्थार्धप्रमितेऽम्भसि ।
मिश्रयित्वा समालोड्य स्तोकं स्तोकं मुहुर्मुहुः ॥ ४१२ ॥
अंशुघातगदाक्रान्तं पाययेत्सुखदं हितम् ।
महाशिशिरनामेदं पानकं हरिणोदितम् ॥ ४१३ ॥

मिश्री [illegible] पल, सफेद चन्दन आधा कर्ष, निम्बू का रस [illegible] पल, गताबरी का रस १ पल और सरसों का तैल [illegible] इनको आधे प्रस्थ पानी में मिलाकर अंशुघात के रोगी को थोड़ा थोड़ा पिलावे। यह महाशिशिर नाम का पानक (शर्बत) अत्यन्त सुख और आरोग्य का दायक है। इसे विष्णु भगवान् ने कहा है ॥ ४११-४१३ ॥

अंशुघाते निवृत्तेऽपि मिथ्याऽऽहारविहारिणः ।
अपस्मारादयः प्रायो जायन्ते बहवो गदाः ॥ ४१४ ॥
तन्मुक्तोऽतो हितं नित्यं सेवेताऽऽबललाभतः ।
मनःप्रीतिप्रदं कर्म्म विदधात निरन्तरम् ॥ ४१५ ॥

मिथ्या आहार और मिथ्या विहार करने वालों को अंशुघात रोग छूट जाने पर भी मृगी आदिक अनेक रोग होते हैं। अतः अंशुघात रोग छूट जाने पर भी जबतक पूर्ण बली न हो जावे तब तक मन-प्रसन्नता कारक पदार्थों का बराबर सेवन करना चाहिए ॥ ४१४-४१५ ॥

अथांशुघाते पथ्यापथ्यव्यवस्था—

अन्नपानादिकं स्निग्धं बलपुष्टिप्रदं सरम् ।
हितं स्यादंशुघातिभ्यो विपरीतं न शर्म्मणे ॥ ४१६ ॥

अंशुघात रोग में स्निग्ध बलकारक और दस्तावर पदार्थों का भोजन तथा पान पथ्य है और इसके विरुद्ध अपथ्य होता है ॥ ४१७ ॥

इत्यंशुघाताधिकारः समाप्तः ॥ १९ ॥

अथ योनिकण्डूरोगाधिकारः ॥ २० ॥

अथ योनिकण्डूनिदानम्—

योनौ बलासे संक्रुद्धे जरायुविकृतेस्तथा ।
बस्तिद्वारेऽर्बुदे जाते दुर्नामगदतोऽपि वा ॥ ४१७ ॥
योनेः शिराणां प्रस्नुतेर्वातवत्याश्च योषितः ।
रजःप्रवृत्तिसमये पुरुषेणातिसङ्गमात् ॥ ४१८ ॥
गर्भप्रागुद्भवे चापि योनिकण्डूः प्रजायते ।

बार्द्धक्य एव नारीणां सा बाहुल्येन संभवेत् ॥ ४१९ ॥

स्त्रियों के योनि में कफ के कुपित हो जाने से, जरायु के विकार से, बस्तिके मुख पर अर्बुद रोग हो जाने से, बवासीर से, वातप्रकृतिक स्त्रियों के योनि में शिराओं के फैलने से, रजोधर्म होने के समय पुरुष के साथ अधिक प्रसङ्ग करने से और गर्भ के आरम्भ समय में सोहबत करने से योनिकण्डू नामक रोग होता है। वह रोग बहुधा स्त्रियों को बुढ़ापा आने के समय में होता है ॥ ४१७-४१९ ॥

अथ योनिकण्डूलक्षणम्—

योनौ कण्डूश्च तोदश्च रौक्ष्यं शुष्कत्वमेव च ।
योनिकण्डूगदस्यैत-ल्लक्षणं भिषजो विदुः ॥ ४२० ॥
उष्णानुपशयो व्याधिः शीतोपशय एव हि ॥ ४२१ ॥

योनि में खुजलाहट, योनिशूल, योनि की रूक्षता और योनि का सूखापन ये योनिकण्डूरोग के लक्षण होते हैं। यह रोग गर्म उपचार से बढ़ता है और ठंढे उपचार से कम होता है ॥ ४२०-४२१ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश Supurin Velusun of the Vazina सुपरइन भेलुसन ऑफ दी भेजाइना। मैथिली-योनिकुरिआहट। हिन्दी-योनिखुजली। संस्कृत-योनिकण्डू।

अथ योनिकण्डूचिकित्सा—

योनिकण्डूगदे देय-मादौ स्निग्धविरेचनम् ।
भेषजं रक्तदोषघ्नं बलदायि रसायनम् ॥ ४२२ ॥

योनि कण्डूरोग में प्रथम स्निग्ध दवा से जुलाब देकर पश्चात् खूनसफी दवा और ताकतवर रसायन का सेवन करवाना चाहिए ॥ ४२२ ॥

अनन्तां सारिवां लोध्रं त्रिवृतामिभपिप्पलीम् ।
क्राथयित्वा पिबेत्तोयं योनिकण्डूप्रशान्तये ॥ ४२३ ॥

दोनों अनन्तमूल, लोध, निशोथ और गजपीपल इनके समान भाग का क्वाथ योनिकण्डूरोग के शान्त्यर्थ पिलाना चाहिए ॥ ४२३ ॥

शिवकरी वटी—

लौहञ्चामृतसाराख्यं फणिफेनं घनं विडम् ।
वह्नितोयेन संमर्द्य माषमात्रां वटीं चरेत् ।
वटी शिवकरी ह्येषा योनिकण्डूप्रशान्तिकृत् ॥ ४२४ ॥

अमृतसार लौह, शुद्ध अफीम, अभ्रभस्म और कालानिमक इनके समान भाग के चूर्ण में चिता के रस की भावना देकर १ माष की गोली बना लेवे। यह शिवकरी वटी

योनिरोगों को हटाती है और कल्याण को देती है ॥ ४२४ ॥

अथ टङ्कणादिचूर्णम्—

टङ्कणं पञ्चलवणं तुगाक्षीरीं शिलाजतु ।
नागरं मुस्तकं वह्नि पद्मकं नीलमुत्पलम् ॥ ४२५ ॥
जीवन्तीं मधुकं द्राक्षां गुडूचीं चन्दनद्वयम् ।
चूर्णयित्वाऽम्भसा नारी पिबेत् कण्डूप्रशान्तये ॥ ४२६ ॥

सोहागा के लावा, पांचों निमक, वंशलोचन, शुद्ध शिलाजीत, सोंठ, नागरमोथा, चित्र, पद्मकाठ, नीलकमल (कुमुदिनी), जीवन्ती, जेठीमधु, दाख, गुरिच और दोनो चन्दन इनके समान भाग का चूर्ण कर ठंड पानी के साथ सेवन करने से योनिकण्डू रोग नष्ट होता है ॥ ४२५-४२६ ॥

योनिकण्डूगदे योनौ शीततोयाभिषेचनम् ॥ ४२७ ॥

योनिकण्डू रोग में ठंढे पानी से योनि को धोना चाहिए ॥ ४२७ ॥

स्नेहः स्वेदश्च कर्त्तव्यो बस्तिश्चोत्तरसंज्ञितः ।
योनिव्यापद्वदोक्तानि भेषजानीह योजयेत् ॥ ४२८ ॥

योनिकण्डू रोग में स्नेहन, स्वेदन और उत्तर बस्ति का प्रयोग करना चाहिये और इस रोग में योनिव्यापद् रोग की सारी दवाओं का सेवन कराना चाहिए ॥ ४२८ ॥

योनिकण्डूरोगे पथ्यापथ्यम्—

यद्यद्वह्निकरं पाच्यं तथा वातानुलोमनम् ।
अन्नं पानञ्चात्र योज्यं विपरीतं सुखाय न ॥ ४२९ ॥

योनिकण्डू रोग में अग्निप्रदीपक, जल्द पचने वाले और वायु के अनुलोमन कारक सारे अन्न और पानी का प्रयोग करना चाहिये । इसके विपरीत अपथ्य होता है ॥ ४२९ ॥

इति योनिकण्डूरोगाधिकारः समाप्तः ॥ २० ॥

अथ योन्याक्षेपाधिकारः ॥२१॥

अथ योन्याक्षेपस्य निदानलक्षणे—

मारुते विगुणे योनौ स्पर्शस्यातिप्रबुद्धता ।
विक्षेपणं मुखस्यास्या—स्तत्स्पर्शे तीव्रवेदना ॥ ४३० ॥
योन्याक्षेपवती नारी न सहेत रतिक्रियाम् ।
यदि गच्छेद्बलाद्भर्त्ता तां साऽतिव्यथिता भवेत् ॥ ४३१ ॥
नोपसर्पेति भर्त्तारं सदा साध्वसविह्वला ।
पत्या तिरस्कृता दुःखा—न्मृत्युमात्मन इच्छति ॥ ४३२ ॥

उद्वेगो वह्निहानिश्च निद्राऽल्पत्वं तथा क्रमात् ।
बस्तिदाहो व्यथा पृष्ठे-ऽशक्तिश्चङ्क्रमणेऽपि च ॥ ४३३ ॥
दौर्बल्यं वर्णहानिश्च तथोत्साहस्य संक्षयः ।
योन्याक्षेपगदस्यैताः प्रोक्ता आकृतयो बुधैः ॥ ४३४ ॥

दूषित वायु योनि में जाकर योनि में अधिक खुजलाहट, योनिका फरफन, और योनिके स्पर्श में अधिक जलन को उत्पन्न करता है। इसको 'योन्याक्षेप' रोग कहते हैं। इस रोग से युक्त स्त्री पुरुष के साथ सङ्ग नहीं कर सकती, यदि उसका स्वामी बलात्कार से उसका सङ्ग करे तो वह स्त्री अत्यन्त पीडित होती है। वह स्त्री सोहबत के डर से अपने स्वामी के पास कभी नहीं जाती है। अतः स्वामीसे अनादृत होकर अपनी मृत्यु को चाहती है। मन में उद्वेग, मन्दाग्नि, अल्पनिद्रा, पेड़ू में जलन, पीठ में दर्द, चलने में कमजोरी, धातु की कमी, रंगत की खराबी और उत्साह का नाश ये 'योन्याक्षेप' रोग के लक्षण हैं। ऐसा प्राचीन वैद्यों ने कहा है ॥४३०-४३४॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश Amaniuria एमेनोरिआ । मैथिली-योनि-फरकापन । हिन्दी—योनिफरकन । संस्कृत-योन्याक्षेप ।

अथ योन्याक्षेपस्य चिकित्सा—

नागदेन गदः साध्यः शस्त्रेणायं प्रसाध्यते ।
शस्त्रं प्रयोजयेदत्र भिषक् शास्त्रविशारदः ॥ ४३५ ॥

योन्याक्षेप रोग दवा से नहीं हटता किन्तु शस्त्र से हटता है। इस रोग में वैद्यक शास्त्र के चतुर वैद्य शस्त्र का प्रयोग करे ॥ ४३५ ॥

पाययित्वा सुरां तीव्रां गदिनीं सव्यशायिनीम् ।
उत्तानामथवा कृत्वा योनौ शस्त्रं प्रवेश्य च ॥ ४३६ ॥
ह्रीमन्तं त्वरयाऽऽच्छिद्य मुखं योनेर्विदार्य्य च ।
तूलेनाऽऽरुध्य बध्नीया-ल्लघुहस्तश्चिकित्सकः ॥ ४३७ ॥

हाथ की सफाई वाला वैद्य योन्याक्षेप के रोगी स्त्री को पूरी नसा की (तेज) शराब पिलाकर बाईं करवट से अथवा चित सुलाकर योनि के अन्दर शस्त्र लेजाकर ह्रीमन्त (योनि अग्र) को शीघ्र छेदन कर योनि के मुख को फैलाकर उसके भीतर रुई रख कर पट्टी बांध देवे ॥ ४३६-४३७ ॥

अवरोधे तु मूत्रस्य वर्त्तयेत्तच्छलाकया ।
वेदनां वारयेद्वैद्यः फणिफेनप्रयोगतः ॥ ४३८ ॥

उक्त क्रियासे यदि पेसाब रुक जावे तो वैद्य सलाई से उसका पेसाब उतारे और अफीम के प्रयोग से उसका दर्द हटावे ॥ ४३८ ॥

पुनर्घस्रद्वयान्ते तां [illegible] सुगां भिषक् ।
तूर्णं निःसार्य योनिस्थं मुखं [illegible]नैः प्रसार्य च ॥ ४३९ ॥
[illegible] कर्तनं कुर्यात्-अङ्गुल [illegible] ।
इत्येवं कल्पनया व्याधि-योन्यार्शः प्रशाम्यति ॥ ४४० ॥

पुनः दो दिन के बाद बांधे हुये [illegible] कर योनि के भीतर से हटाकर योनि के मुख को फैलाकर उसके नीचे [illegible] अङ्गुल भीतर काट देवें । इस क्रिया से योन्यार्श रोग समूल नष्ट होता है ॥ ४३९-४४० ॥

योन्यार्शे पथ्यापथ्यानि—

अत्र पथ्यं घृतं दुग्धं गोधूम चणकादयः ।
वृषस्छागादिमांसं च उग्रवीर्यं हितं नहि ॥ ४४१ ॥

योन्यार्श रोग में घी, दूध, गेहूँ, चना आदिक (मूंग) और खसी आदि के मांस का रस पथ्य है और उग्रवीर्य पदार्थ इसके विरुद्ध होने से हितकारक नहीं होता है ॥ ४४१ ॥

इति योन्यार्शपाधिकारः समाप्तः ॥ २१ ॥

अथ जरायुरोगाधिकारः ॥ २२ ॥

अथ जरायुरोगस्य निदानम्—

नैरन्तर्येण गर्भस्य सम्भवात् स्रावतोऽस्य च ।
शैत्यादार्द्राभिषेकाच्च पापोपदंशतस्तथा ॥ ४४२ ॥
अतिव्यवायतः पाप-मेहिना सह सङ्गमात् ।
जरायुरोगो जायेत चिह्नमस्य निशामय ॥ ४४३ ॥

जल्द २ गर्भ होने से, जल्द २ गर्भ के गिरने से, अधिक ठण्डी से, अधिक स्नान करने से, पापोपदंश से, अधिक सोहबत करने से और पापमेही पुरुष के साथ सोहबत करने से जरायुरोग होता है । इसका लक्षण सुनो ॥ ४४२-४४३ ॥

अथ जरायुरोगस्य लक्षणम्—

ज्वरोऽग्निमान्द्यमास्यस्य नीलत्वं त्रिकतोदनम् ।
व्यथा निम्नोदरे वस्ता-वुष्णत्वं गौरवं तथा ॥ ४४४ ॥
मुहुर्मूत्रप्रवृत्तिश्च योनितः क्लेदसंस्रुतिः ।
मलस्यातिप्रवृत्तिश्च ततस्तद्रोध एव च ॥ ४४५ ॥
दुर्नामानि च दौर्बल्यं शिरोरुग् वमथुस्तथा ।
जरायुरोगे जायन्त आकारा एवमादयः ॥ ४४६ ॥

ज्वर, अग्निमर्द, मुखका रंग नीला, त्रिक (पेट पीठ के जोड़ और हाथ पीठ के जो- ड़) में दर्द, पेट में दर्द, बस्ति में जलन और भारीपन, बारम्बार पेसाब उतरना, योनि- मुख से पानी का आना, अधिक पैखाना होना और पैखाने का रुकना, बवासीर, कमजोरी, माथे में दर्द और कै, ये जरायुरोग के लक्षण होते हैं ॥ ४४४-४४६ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश-Desme nurea डिस्मिनोरिया । मैथिली-कसअँ- टकव । हिन्दी-कसकी रुकावट । संस्कृत-जरायुरोग ।

अथ जरायुरोगस्य चिकित्सा—

जरायुरोगे प्रथमं देयं स्निग्धविरेचनम् ।
हितोऽत्रोत्तरवस्तिश्च सुखोष्णेनाम्भसा तथा ॥ ४४७ ॥

जरायुरोग में पहले स्निग्ध पदार्थों से पैखाना करावे और थोड़ा गरम पानी से उत्तर बस्ति (पिचकारी) देना इस रोग में हितकर है । ॥ ४४७ ॥

अधोदेहस्य सलिले चोष्णे संमज्जनं हितम् ।
अतसीवीजकल्केन तप्तेन सह सर्पिषा ॥
पुटलेपो हितः प्रोक्त उदराधो मनीषिभिः ॥ ४४८ ॥

जरायुरोगी को गर्म पानीमें कटिसे नीचे भाग तक डुबाकर बैठाना चाहिए । और पेंडूपर तीसी का कल्क तथा घी का गर्मागर्म लेप करने से जरायु रोग नष्ट होता है॥४४

नारिकेलजतैलेन रससिन्दूरसेवनम् ।
जरायुरोगं शमयेत् तथा पथ्यानुवर्त्तनम् ॥ ४४९ ॥

रससिन्दूर का नारिअल का तेल और पानी के साथ सेवन करने से और इसे का लेप लगाने से किंवा पथ्य से रहने पर जरायुरोग नष्ट होता है ॥ ४४९ ॥

शारिवाऽऽदिचूर्णम्—

शारिवाद्वयमञ्जिष्ठा-त्रिवृद्द्राक्षावरीवलाः ।
शतपुष्पाकणाद्वन्द्व-दारुदारुनिशानिशाः ॥ ४५० ॥
क्षारत्रयं चतुर्ज्जातं तथा लवणपञ्चकम् ।
फलत्रयं मुस्तकं च मधुकं विश्वभेषजम् ॥ ४५१ ॥
चूर्णयित्वा पिबेन्नारी प्रातः प्रातः प्रसन्नया ।
जरायुरोगः प्रशमं यात्यनेन न संशयः ॥ ४५२ ॥

दोनो अनन्तमूल, मजीठ, निसोथ, दाख, शतावरी, वरिआरा, सौंफ, पीपल, गज- पीपल, देवदारु, दारुहल्दी, हल्दी, तीनोखार, (जवाखार, सज्जीखार और सोहागा की लावा), चतुर्जातक, पांचो निमक, त्रिफला, नागरमोथा, जेठीमधु और सोंठ, इनके समान भाग का चूर्ण सुबह २ दारु (मद्य) के साथ स्त्री पिये तो जरायु रोग

नष्ट होता है। इसमें सन्देह नहीं ॥ ४५०-४५२ ॥

प्रमदाऽऽनन्दो रसः—

अयो रौप्यं तथा हेम रसं गन्धं शिलाजतु ।
वह्निद्रवेण सम्मर्द्य रक्तिमाना वटीश्चरेत् ॥ ४५३ ॥
नाम्नाऽसौ प्रमदाऽऽनन्दो रसो ह्याशु विनाशयेत् ।
त्रिफलातोययोगेन सर्वाञ्जरायुजान् गदान् ॥ ४५४ ॥

लौहभस्म, चांदीभस्म, सोनाका भस्म, शुद्धपारा, शुद्धगन्धक और शुद्ध शिलाजीत इनको समान भाग लेकर चित्रक के रस में खरल कर १ रत्ती की गोली बनावे। इस प्रमदाऽऽनन्द रस को त्रिफला के क्वाथ के साथ सेवन से सभी प्रकार के जरायु रोग नष्ट होते हैं ॥ ४५३-४५४ ॥

अथ पथ्यापथ्यम्—

जरायुरोगिणी नारी न च सेवेत पूरुषम् ।
न खादेदुग्रवीर्य्याणि नापि कुर्य्यादतिश्रमम् ॥ ४५५ ॥

जरायु रोग वाली स्त्री पुरुष के साथ सोहबत न करे, तीक्ष्ण पदार्थ न खाए और अत्यन्त परिश्रम न करे ॥ ४५५ ॥

इति जरायुरोगाधिकारः समाप्तः ॥ २२ ॥

अथाण्डाधारगदाधिकारः ॥ २३ ॥

तत्राण्डाधारगदस्य निदानम्—

रमणातिशयाच्छैत्या-दभिघाताद्विषादपि ।
अण्डाधारगदः कृच्छ्रो जायते चाहिताशनात् ॥ ४५६ ॥

अधिक पुरुष सङ्ग और ठण्डी से, चोट लगने से, विष से और अपथ्य भोजन से कष्टसाध्य 'अण्डाधार' नामक रोग होता है ॥ ४५६ ॥

अथाण्डाधारगदस्य लक्षणम्—

उदरोरुव्यथा कृच्छ्रा-न्मूत्रस्याल्पत्वरक्तते ।
ज्वरारोचकहृल्लासा अरतिर्बलसंक्षयः ॥ ४५७ ॥
धमनी वेगिनी क्षुद्रा जिह्वा रक्तोज्ज्वला तथा ।
अण्डाधारगदस्यैताः प्रोक्ता आकृतयो बुधैः ॥ ४५८ ॥

पेट और जांघ में अधिक दर्द, थोड़ा और लाल पेसाब, ज्वर, अरुचि, जीमचलाहट, बेचैनी, कमजोरी, अधिक वेग से चलने वाली तथा दुबली नाड़ी और कांति युक्त लाल जीभ, ये अण्डाधार गद के लक्षण होते हैं ॥ ४५७-४५८ ॥

अथाण्डाधारगदस्य चिकित्सा—

बलप्रवर्द्धकं यद्यत् पवनस्यानुलोमनम् ।

अण्डाधारगदे तत्तत् प्रयोक्तव्यं भिषग्वरैः ॥ ४५९ ॥

ताकतवर और वायु का अनुलोमकारक जो २ पदार्थों में हों उनका अण्डाधार गद में वैद्य प्रयोग करें ॥ ४५९ ॥

पटोलादिकाथः—

पटोलं मधुकं द्राक्षां धन्याकं विश्वभेषजम् ।
पीतमूलीं बलां रास्नां मूर्वामिन्द्रयवं विडम् ॥ ४६० ॥
कणाद्वन्द्वं निशाद्वन्द्व-मिन्द्रपुष्पं त्रिजातकम् ।
काथयित्वा पिबेत्तोय-मण्डाधारगदे सदा ॥
विषञ्च मधुना ज्ञेय-मण्डाधारगदे हितम् ॥ ४६१ ॥

परवल, जेठीमधु, दाख, धनिआं, सोंठ, रेवञ्चीनी, बरिआरा, रास्ना, मूर्वा, इन्द्रजौ, काला नमक, पीपल, गजपीपल, हल्दी, दारुहल्दी, लवङ्ग और त्रिजातक इनके समान भाग का क्वाथ अण्डाधार रोग को नष्ट करता है । और शुद्धविष मात्रा से मधु के साथ सेवन करने से अण्डाधार रोग को नष्ट करता है ॥ ४६०-४६१ ॥

अथ योषिद्वल्लभो रसः—

सिन्दूरमभ्रं रौप्यञ्च वैक्रान्त हेम टङ्कणम् ।
वराऽम्भसा भावयित्वा वल्लमात्रा वटीश्चरेत् ॥ ४६२ ॥
योषिद्वल्लभनामाऽयं रसोऽण्डाधारसम्भवान् ।
निहन्ति निखिलान् रोगान् हर्य्यक्षो हरिणानिव ॥ ४६३ ॥

सिन्दूररस, अभ्रभस्म, चान्दीभस्म, वैक्रान्तभस्म, सोना भस्म और सोहागे का लावा, इनके समान भाग को शतावरी के रस की भावना देकर १ वल्ल की गोली बनावे । इसे 'योषिद्वल्लभ' रस कहते हैं । यह सिंह के समान हरिणों की भांति अण्डाधार रोगों को नष्ट करता है ॥ ४६२-४६३ ॥

चन्दनाद्यं चूर्णम्—

चन्दनद्वितयं मूर्वा नीलिन्येलाद्वयं मुरा ।
कणाद्वयं त्रिवृद् द्राक्षा मांसी मधुकमुस्तकम् ॥ ४६४ ॥
एतत्सर्वं चूर्णयित्वा डिम्बाधारगदापहम् ।
उष्णेन पयसा नारी पिबेन्नित्यं सुखार्थिनी ॥ ४६५ ॥

दोनों (सफेद व लाल) चन्दन, मूर्वा, नील, दोनों इलाइची, मुरा, दोनों पीपल (पीपल-गजपीपल), निसोथ, दाख, जटामासी, जेठी मधु और नागरमोथा इनके समान भाग का चूर्ण आरोग्यता को चाहने वाली स्त्री गर्म पानी के साथ सेवन करे । यह 'चन्दनादिचूर्ण' डिम्बा (अण्डा) धार रोग को नष्ट करता है ॥ ४६४-४६५ ॥

अण्डाधारगदे पथ्यापथ्यानि—

पथ्यमत्र हविर्दुग्धं शालिः जीर्णो यवस्तिलः ।
छागमांसरसश्चैव द्रव्यमुग्रं न शस्यते ॥ ४६६ ॥

घी, दूध, धान पुराना, जौ, तिल और बकरे के मांस का रस ये अण्डाधार गद में पथ्य होते हैं और तीक्ष्ण पदार्थ कल्याणकारक नहीं (अपथ्य) होता है ॥ ४६६ ॥

इत्यण्डाधारगदाधिकारः समाप्तः ॥ २३ ॥

अथ बाधकाधिकारः ॥ २४ ॥

अथ बाधकस्य भेदाः—

रक्तमाद्री तथा षष्ठ्य-ङ्कुरो जलकुमारकः ।
बाधका इति चत्वारः प्रजाजननबाधकाः ॥ ४६७ ॥

रक्तमाद्री, षष्ठी, अङ्कुर और जलकुमारक ये सन्तानोत्पत्ति में बाधा देनेवाले चार प्रकार के 'बाधक' रोग होते हैं ॥ ४६७ ॥

अथ रक्तमाद्रीनाम्नो बाधकरोगस्य लक्षणम्—

व्यथा कट्यां तथा नाभे-रधः पार्श्वे स्तनेऽपि च ।
रक्तमाद्रीप्रदोषेण जायते फलहीनता ॥ ४६८ ॥
मासमेकं द्वयं वाऽपि ऋतुयोगो भवेद्यदि ।
रक्तमाद्रीप्रदोषेण फलहीना सदा भवेत् ॥ ४६९ ॥

कमर, नाभि के नीचे (पेंडू), पसुली और स्तनों में दर्द और गर्भ का अभाव ये 'रक्तमाद्री' नामक बाधक रोग के लक्षण हैं। एवं 'रक्तमाद्री' नामका बाधक रोग से एक महीने में या दो महीनेमें रजोधर्म होता है किन्तु गर्भ कभी नहीं होता है४६८-४६९

अथ षष्ठीनामबाधकरोगस्य लक्षणम्—

नेत्रे हस्ते भवेज्ज्वाला योनौ चैव विशेषतः ।
लालासंयुक्तरक्तं च षष्ठीबाधकयोगतः ॥ ४७० ॥
मासैकेन भवेद्यत्र ऋतुस्नानद्वयं तथा ।
मलिना रक्तयोनिः स्यात् षष्ठीबाधकयोगतः ॥ ४७१ ॥

आँखों और हाथों में जलन तथा योनि में अधिक जलन और योनि से लारयुक्त खून का आना ये षष्ठी नामक बाधक रोग के लक्षण हैं। महीने में दो बार रजस्वला होना तथा योनि की रंगत मलिन और लाल होवे तो षष्ठी बाधक नामका रोग जानें।

अथाङ्कुरनाम्नो बाधकरोगस्य लक्षणम्—

उद्वेगो गुरुता देहे रक्तस्रावो भवेद्बहुः ।

नाभेरधो भवेच्छूल चाङ्कुरः स तु बाधकः ॥ ४७२ ॥
ऋतुहीना चतुर्मासं त्रिमासं वा भवेद्यदि ।
कृशाङ्गी करपादे च ज्वाला चाङ्कुरयोगतः ॥ ४७३ ॥

मन में उद्वेग, शरीर भारी, बारंबार योनिसे खून का अधिक आना और पेंडू में दर्द ये 'अङ्कुर' नामक बाधक रोग के लक्षण हैं । तीन अथवा चार महीने पर रजस्वला होना, शरीर दुबला, हाथ और पैर में जलन ये अङ्कुर नामक बाधक रोग के लक्षण हैं।

अथ जलकुमारबाधकस्य लक्षणम्—

सशूला च सगर्भा च शुष्कदेहाऽल्परक्तिका ।
जलकुमारदोषेण जायते फलहीनता ॥ ४७४ ॥
या कृशाङ्गी भवेत्स्थूला बहुकालमृतुस्तथा ।
गुरुस्तनी स्वल्परक्ता जलकुमारदूषणात् ॥ ४७५ ॥

जो स्त्री गर्भवती हो एवम् उसके पेट में दर्द हो तथा जिसका शरीर सूख जाय और खून की कमी होवे तो वह स्त्री जलकुमार नाम बाधक रोग से युक्त होने से संतान को पैदा नहीं कर सकती है ।

जो स्त्री स्वाभाविक दुबली होकर भी मोटी होवे तथा अधिक समय पर रजस्वला हो और जिसके स्तन मोटे हो जायं एवम् स्वल्प रक्त हो उसे जलकुमार नामक बाधक रोग हुआ कहना चाहिए ॥ ४७४-४७५ ॥

विशेष भाषा—इङ्गलिश-Strelatvi (स्ट्रीलेटी) । मैथिली-बन्ध्यारोग । हिन्दी-बांझपन । संस्कृत-बाधक ।

अथ बाधकस्य चिकित्सा—

रसाञ्जनं विडं वह्निं शीतेन पयसा सह ।
पीत्वा बाधकरोगेण सद्यो नारी प्रमुच्यते ॥ ४७६ ॥

रसाञ्जन, काला निमक और चित्त के जड़ की छाल इनके चूर्ण को ठंढे पानी के साथ सेवन करने से स्त्री 'बाधक' रोग से शीघ्र छुटकारा पाती है ॥ ४७६ ॥

मरिचेन प्रजावत्या मूलं पीताऽम्भसा सह ।
पीत्वा बाधकनिर्मुक्ता नारी गर्भं दधाति हि ॥ ४७७ ॥

प्रजावती (उलट कमल) की जड़ और मरिच को ठंढे पानी के साथ सेवन करने से स्त्री 'बाधक' रोग से छुटकारा पाकर शीघ्र गर्भ को धारण करती है ॥ ४७७ ॥

समस्तयोनिरोगाणां चिकित्सा—

अन्तर्भवन्ति व्यापत्सु योनेः सर्वेऽपि बाधकाः ।
अतस्तासां विधानेन भिषगेतानुपाचरेत् ॥ ४७८ ॥

जिस लिये योनिव्यापत् रोग के अन्तर्गत सभी प्रकार के बाधक रोग माने जाते हैं अतः वैद्य को चाहिए कि योनिव्यापत् की सारी दवायें बाधक रोग में भी करें॥

योनिरोगवती नारी कुर्य्यान्नातिरतौ मतिम् ।
भूयसीं विकृतिं योने-र्यतः सा जनयेद् ध्रुवम् ॥ ४७९ ॥

जिस लिए योनि रोग में अत्यंत मैथुन करवाने से अनेक प्रकार के योनिरोग होते हैं अतः इससे युक्त स्त्री अत्यंत मैथुन न करे ॥ ४७९ ॥

जीरकद्वितयं कृष्णा श्यामाऽनन्ता निशाद्वयम् ।
वासासैन्धवपथ्याश्च यवक्षारो यमानिका ॥ ४८० ॥
एषां चूर्णं घृते किंचिद् भृष्ट्वा खण्डेन मोदकम् ।
कृत्वा खादेद्यथावह्नि योनिरोगाद्विमुच्यते ॥ ४८१ ॥

दोनों (स्याह-सफेद) जीरा, पीपल, निसोथ, अनंतमूल, दोनों हल्दी, अडूसा, सेंधा निमक, हरें, जवाखार और जमाइन इनको घी में किंचित् भूनकर चूर्णकर तथा मिश्री में मोदक बनाकर अग्नि के अपेक्षाऽनुसार मात्रा से सेवन करने से योनिरोग निश्चय नष्ट होता है ॥ ४८०-४८१ ॥

त्रिफलाऽऽद्यं घृतम्—

त्रिफलां त्रिवृतां शुण्ठीं गुडूचीं सपुनर्नवाम् ।
विदारिकां हरिद्रे द्वे रास्नां मेदां शतावरीम् ॥ ४८२ ॥
कल्कीकृत्य घृतप्रस्थं पचेत् क्षीरे चतुर्गुणे ।
तत्सिद्धं पाययेन्नारीं योनिरोगप्रशान्तये ॥ ४८३ ॥

त्रिफला, निसोथ, सोंठ, गुरुच, पुनर्नवा, विदारीकन्द, दोनों हल्दी (हल्दी, दारुहल्दी), रास्ना, मेदा और शतावरी इनके समान भाग का कल्क बनाकर कल्कके चौगुना घी और घी के चौगुना दूध डालकर विधिपूर्वक घी तैयार करने से त्रिफलाऽऽद्य नामक घी होगा । इस घी को योनिरोग के शान्त्यर्थ स्त्रियों को पिलाना चाहिए ॥

कुमारकल्पद्रुमकं फलकल्याणकं घृतम् ।
तथा सोमघृतं शस्तं योनिरोगप्रशान्तये ॥ ४८४ ॥

योनि रोग को नष्ट करने के लिए कुमारकल्पद्रुम घृत, फलकल्याण घृत और सोमघृत का सेवन करवाना चाहिए ॥ ४८४ ॥

अथ योनिरोगे पथ्यापथ्यव्यवस्था—

बृंहणं पोषणं वह्ने-र्दीपनं चानुलोमनम् ।
अन्नं पानं योनिरोगे सेवेतान्यद्विवर्ज्जयेत् ॥ ४८५ ॥

योनि रोग में बलकारक, पुष्टिकारक, अग्निदीपक और वायु के अनुलोमन

कारक अन्न और पानी का सेवन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त को छोड़ देना चाहिए ॥ ४८७ ॥

इति बाधकरोगाधिकारः समाप्तः ॥ २४ ॥

इति दरभङ्गामण्डलान्तर्गतमोसमिरजापुरग्रामवासिपण्डितदर्शनझात्मजमुजफ्फरपुरमण्डलान्तर्गतमधेसरास्थसंस्कृतविद्यालयप्रधानाध्यापकज्योतिषाचार्य-ज्योतिषतीर्थ-आयुर्वेदाचार्य-पण्डितश्रीयुगेश्वरझाशर्मसङ्कलित-"आयुर्वेदविज्ञानसारे"तत्कृता 'विद्योतनी' हिन्दीटीका समाप्ता।

टीकाकर्तृवंशपरिचयः—

अस्ति श्रीसुखकान्तिसंमतिकलाविद्यावला मङ्गला
देशः श्रीमिथिलावला शशिकला जज्ञे यतो जानकी।
सम्यक् तत्र विराजते विधिकलाभूपः सुरूपः कृपः-
श्री ५ कामेश्वर ईश्वरं सुतयुतो भूयाद्भवानीं भजे ॥ १ ॥

दरभङ्गा यथा गङ्गा श्री ५ कामेश्वर-सङ्गिनी।
राजधानी ततो दूरे वायौ क्रोशरसात्मके ॥ २ ॥

राजते मोसमिर्जापुरन्मे पुरं-श्रीखुसीठक्कुरोऽभूत्पुरेऽस्मिन् पुरा।
तत्सुतो बाबुजी ठक्कुरोऽगाद्दिवं-स्वां दिलक् सोदरां जन्मदं चाऽवलान् ॥ ३ ॥

पितामहः श्रीजयनाथझा मे-सुदैवलाँचे वरवीरकौलिः।
खुनीतिनान्नस्तनयां विवाह्य-तस्यां सुपुत्रौ जनयाञ्चकार ॥ ४ ॥

ज्येष्ठस्तयोर्मे जनको विराजते-श्रीदर्शनाख्यो घटकः सुधीश्च।
ततः कनिष्ठो वटुको दिवङ्गतः-पुपोष योऽस्मान् तनयानिवालम् ॥ ५ ॥

श्रीदर्शनात् षट् तनया लसन्ति-वच्चाख्ययोक्तः प्रथमः प्रधानः।
विश्वेश्वरश्चाथ युगेश्वरोऽहं-यागेश्वरो भाति ममानुजो हि ॥ ६ ॥

राजेश्वरो वैद्यवरः कुशेश्वरो-वसन्ति सर्वे सह षट् पुरे स्वे।
श्रीजानकी नो जननी विराजते-स्वसा दयाधर्मवती च दाइजी ॥ ७ ॥

युगेश्वरेणेति तृतीयकेन-श्रीदर्शनप्रोद्भववंशकेऽस्मिन्।
विद्योतनीत्यच्छनलेखि टीका-शोध्या बुधैस्तान् शिरसा नतोऽस्मि ॥ ८ ॥

विद्योतनी विदां प्रीतेः-श्रमविशोतनी मम।
विद्योतनीति भावानां-नाम्ना विद्योतनी भवेत् ॥ ९ ॥

गुणाङ्गनागैकमिते शकाब्दे षष्टे गतेऽर्केऽर्जुनपक्षतौ च।
विधौ समाप्तिं ह्यगमत् सुटीका विद्योतनी मे गुरुशङ्करात्तः ॥ १० ॥

श्रीगौरकृष्णः शरणम् ।

आयुर्वेदविज्ञानसारस्य परिशिष्टम् ।

अथायुर्वेदविज्ञान-सारस्य परिशिष्टकम् ।
लिख्यते येन शिष्याणां भवेदेव विशिष्टकम् ॥

अथातो महाद्रावकाः

भैषज्यरत्नावल्यां प्लीहयकृद्रोगाधिकारोक्तः—

शुद्धं काञ्चननालिकं मृदुवरं कांस्याभिधं नवसा
सिन्धूत्थं विमलं रसाञ्जनवरं फेनः स्रवन्तीपतेः ।
क्षारौ सर्जिकसाम्भलौ सुविमलौ भागास्त्वमीषां समाः-
सप्तानां सदृशं तु टङ्कणमिह स्यादर्द्धो नृसारः सितः ॥ १ ॥
तत्तुल्या स्फटिकारिका त्रिसदृशः शुक्तो यवक्षारज-
क्षारांशत्रितयं यवाग्रजसमं संचूर्ण्य सर्वं न्यसेत् ।
पात्रे काचमये मृदम्बरवृते यन्त्रे बकाख्ये भिषग्-
ज्ज्वालेन क्रमवर्द्धिनाऽव्यवहितोऽमीषां रसं पातयेत् ॥ २ ॥
यो द्राग् भस्म वराटिकां प्रकुरुते सोऽयं महाद्रावकः-
को वक्तुं प्रभवेदमुष्य नितरां सम्यग्गुणान् भूतले ।
एतद्वल्लचतुष्टयं सह गिलेच्छुण्ठ्या लवङ्गेन वा
तत्पश्चात्परिवासितं बहुगुणं ताम्बूलकं भक्षयेत् ॥ ३ ॥
प्रासङ्गात् कथयामि तान् शृणु गुणानस्यैव कांश्चित् परान्
निःशेषं विनिहन्त्यसौ चिरभवान्यष्टोदराणि ध्रुवम् ।
गुल्मं पाण्डुहलीमकं सुकठिनामष्ठीलिकां कामलां-
मन्दाग्निं विषमाग्नितां बहुविधाञ्छोथांश्च शूलानपि ॥ ४ ॥
सर्वार्शांसि भगन्दरान् क्रिमिगदान् पञ्चैव कासांस्तथा
हिक्काश्लीपदकोषवृद्धिमरुचिव्याधिं महादारुणम् ।
नव्यं वा चिरजं ज्वरं बहुविधं छर्दिं क्रिमीन् विंशतिं-
यक्ष्माणं चिरजामवातपिडकावीसर्पविस्फोटकम् ॥ ५ ॥

उन्मादं स्वरभेदमर्बुदमपि स्वेदञ्च हृत्पाणिजं-
जिह्वास्तम्भगलग्रहं चिरभवं ग्रीवारुजामुल्बणाम् ।
नासाकर्णशिरोऽक्षिवक्त्रजगदान् क्षुद्रामयांश्चापरान्
हन्यादेव चिरोत्थितान् बहुविधानन्यांश्च रोगानपि ॥ ६ ॥
एकः स्यादपरो हि टङ्कणमुखैर्द्रव्यैः परैः सप्तकै-
रन्यस्तु स्फटिकारिटङ्कणयवक्षाराग्रकासीसकैः ।
जानीयाद् गुरुतो विभागमनयोर्यन्त्रादिकं चापरं-
निर्दिष्टास्त्रय एव भेषजवराः स्वल्पो महान् मध्यमः ॥ ७ ॥

टङ्कणादिकासीसान्तैः सप्तद्रव्यैर्मध्यमः । स्फटिकादिकासीसान्तैश्चतुर्द्रव्यैः स्वल्पः । स्वर्णमाक्षिकादिकासीसत्रितयान्तैर्महान् ॥ ७ ॥

स्वर्णमाक्षिक, कांस्यमाक्षिक, सैन्धव लवण, रसाञ्जन, समुद्रफेन, सज्जीखार, सांभलक्षार सम्पूर्ण १ भाग, सुहागा ७ भाग, नौसादर ३॥ भाग, फिटकिरी ३॥ भाग, यवक्षार १४ भाग, तीनों कासीस मिलित १४ भाग, इन्हें एकत्र चूर्णितकर एक कपरौटी की हुई कांचकूपी में डालकर वकयन्त्र (भबका) द्वारा अग्नि को क्रमतः बढ़ाते हुये यथाविधान सावधानी से रस का पातन करें । यह कौड़ी को शीघ्र ही भस्म करता है । इसका नाम 'महाद्रावक' है । मात्रा-१ बूंद । सोंठ अथवा लौंग के चूर्ण के साथ इसका सेवन करें । तत्पश्चात् सुगन्धयुक्त पान को चबावें, यह शीघ्र ही आठो उदर रोग, गुल्म, पाण्डु, हलीमक, कठिन अष्ठीला, कामला, मन्दाग्नि, विषमाग्नि, नाना प्रकार के शोथ, शूल, अर्श, भगन्दर, क्रिमिजरोग, खांसी, हिक्का, श्लीपद (फीलपांव), अण्डकोष वृद्धि, अरुचि, नवीन अथवा पुरातन ज्वर, अनेक प्रकार के कै रोग, क्रिमि, राजयक्ष्मा, पुरातन आमवात, पिडका, विसर्प, विस्फोट, उन्माद, स्वरभेद, अर्बुद, निर्बलता के कारण उत्पन्न होने वाला हृत्स्थल और हाथ का पसीना, जिह्वास्तम्भ, गलग्रह, ग्रीवा की वेदना, नाक, कान, शिर, आंख एवम् मुख के रोग, क्षुद्ररोग तथा नानाविध पुरातन रोगों को नष्ट करता है । यह द्रावकरस तीन प्रकार का है । १-महान् , २ मध्यम तथा ३-स्वल्प । उपर्युक्त संपूर्ण योग 'महाद्रावक' कहलाता है । 'मध्यमद्रावक' में सुहागा, नौसादर, फिटकिरी, यवक्षार, तथा तीनों कासीस ये सब ७ द्रव्य होते हैं । फिटकिरी, सुहागा, यवक्षार तथा कासीस इन ४ द्रव्यों से 'स्वल्पद्रावक' रस प्रस्तुत किया जाता है । इनका विभाग तथा यन्त्र आदि गुरु से जानना चाहिये ॥ १-७ ॥

रससिन्दूरम्—(योगरत्नाकरोक्तम्) यकृद्रोगे—

पलद्वयं शुद्धरसं पलार्द्धं शुद्धगन्धकम् ।
कर्षार्द्धं नरसारं च जम्बीरेण विमर्दयेत् ॥ ८ ॥

काचकूप्यां क्षिपेच्चैव सप्तधा मृदकर्पटैः ।
विलेप्य काचकूपीं ना-मानपे शोषयेद् दृढम् ॥ ९ ॥
छिद्रभाण्डे ततः कूपीं न्यसेत्सिकतयन्त्रके ।
कूपिकां कण्ठमानेन पूजयेदिष्टदेवताः ॥ १० ॥
पञ्च पूज्याः कुमार्यश्च ततश्चुल्ल्यां विनिक्षिपेत् ।
पचेद्यामाष्टकं चैव कूपिकां च क्षणे क्षणे ॥ ११ ॥
संशोध्य पाचयेद्यन्त्रे स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत् ।
ग्राह्यं च दरदाकारं देवदानवदुर्लभम् ॥ १२ ॥
सेवयेद्रोगनाशाय तत्तद्रोगानुपानतः ।
वल्लं वा वल्लयुग्मं वा कणया मधुना सह ॥ १३ ॥
सेवितं कामिनीं कामं दर्शयेदतिकौतुकम् ।
वीर्यबन्धकरं शीघ्रं योषामदविनाशनम् ॥ १४ ॥
सिन्दूरं हरवीर्यसंभवमिदं रूक्षाग्निमान्द्यापहं-
यक्ष्मादिक्षयपाण्डुशोफमुदरं गुल्मप्रमेहापहम् ॥
शूलप्लीहविनाशनं ज्वरहरं दुष्टव्रणान्नाशये-
दर्शांसि ग्रहणीभगन्दरहरं छर्दित्रिदोषापहम् ॥ १५ ॥

शुद्ध पारद २ पल, शुद्ध गन्धक २ कर्ष और नौसादर आधा कर्ष लेकर तीनों की कज्जली बनाकर उसे नीबू के रस में घोटकर सुखालें, और फिर उसे सात कपड़मिट्टी की हुई आतशी शीशी में भर दें। तदनन्तर एक हांडी के पेंदेमें छेद करके उस पर कपड़मिट्टी करके सुखालें और उसमें शीशी रखकर शीशी के गले तक हांडी को बालू (रेत) से भर दें। इसके बाद इष्टदेव और ५ कुमारियों का पूजन करके उक्त हांडी को चूल्हे पर चढ़ादें और उसके नीचे ८ पहर तक अग्नि जलावें और (अग्नि, ताप से उस समय नौसादर उड़ २ कर शीशी के मुख को बन्द करेगा अतः एव लोहे की सलाई से) शीशी के मुख को बार बार खोलते हुये रहना चाहिये। ८ पहर अग्नि जलाने के बाद जब शीशी स्वाङ्ग शीतल (अपने आप ठण्डी) हो जाय तो उसे तोड़ कर उसके गलेमें लगे हुये 'रस सिन्दूर' को निकाल लें। यह देव-दानवोंके लिये दुर्लभ वस्तु है। इसे रोगों के नाशार्थ तत्तद्रोगानुसार अनुपान के साथ सेवन कराना चाहिये। इसकी मात्रा-३ से ६ रत्ती तक होती है। और साधारण अनुपान-पीपल का चूर्ण और शहद ही है। यह सेवन करने से कामिनी स्त्रियों को अत्यन्त रति-सम्बन्धी कौतुक को दिखाता है। अर्थात् अत्यन्त बाजीकर है और शुक्र का स्तम्भन करने वाला तथा शीघ्र स्त्रियों के मद को हरने वाला है। एवम् यह सिन्दूर

रस-रूक्षता तथा अग्निमान्द्य को दूर करने वाला तथा क्षय, पाण्डुरोग, शोथ, उदर-सम्बन्धी रोग, गुल्म, प्रमेह, शूल, प्लीहा, ज्वर, दुष्टव्रण, अर्श (बवासीर), संग्रहणी, भगन्दर, वमन और त्रिदोष को नष्ट करता है ॥ ८-११ ॥

विशिष्टानुपानानि—

पिप्पली-मधुना सार्द्धं वातमेहं हिनस्ति च ।
त्रिफला-शर्करासार्द्धं पित्तमेहहरः स्मृता ॥ १६ ॥
पिप्पली मरिचं शुण्ठी भार्गी च मधुना सह ।
कासश्वासप्रशमनः शूलस्य च विनाशनः ॥ १७ ॥
हरिद्रा शर्करा सार्द्धं रुधिरस्य विकारनुत् ।
त्र्यूषणं त्रिफला वासा कामलापाण्डुमान्द्यहृत् ॥ १८ ॥
पिप्पली चित्रकं पथ्या तथा सौवर्चलं क्षिपेत् ।
अग्निमान्द्यबद्धकोष्ठ-हृद्व्यथानाशनं परम् ॥ १९ ॥
शिलाजतु तथैला च सितोपलसमन्वितम् ।
मूत्रकृच्छ्रे प्रशस्तोऽयं सत्यं नागार्जुनोदितम् ॥ २० ॥
लवङ्गं कुङ्कुमं पत्री हिङ्गुलं करहाटिका ।
पिप्पली विजया चैव समानीमानि कारयेत् ॥ २१ ॥
कर्पूरादहिफेनाच्च नागाङ्गागार्द्धकं क्षिपेत् ।
सर्वमेकत्र संमर्द्य धातुवृद्धौ प्रदापयेत् ॥ २२ ॥
सौवर्चलं लवङ्गं च भूनिम्बश्च हरीतकी ।
अस्यानुपानयोगेन सर्वज्वरविनाशनः ॥ २३ ॥
तथा रेचकरः प्रोक्तः सौवर्चलफलत्रिकात् ।
लवङ्गं कुङ्कुमं चैव दरदेन च संयुतः ॥ २४ ॥
ताम्बूलेन समं भक्ष्यो धातुवृद्धिकरः परः ।
विदारीचूर्णयोगेन धातुवृद्धिकरो मतः ॥ २५ ॥
विजयादीप्यसंयुक्तो वमनस्य विकारनुत् ।
सौवर्चलं हरिद्रा च विजया दीप्यकस्तथा ॥ २६ ॥
अनेनोदरपीडां च सद्योजातां विनाशयेत् ।
चतुर्वल्लं पलाशस्य बीजाच्च द्विगुणं गुडात् ॥ २७ ॥
अस्यानुपानयोगेन क्रमिदोषविनाशनः ।

अहिफेनं लवङ्गं च दरदं विजया तथा ॥ २८ ॥
अस्यानुपानतः सद्यः सर्वातीसारनाशनः ।
सौवर्चलेन दीप्येन चाग्निमान्द्यहरः परः ॥ २९ ॥
क्षुद्बोधजनकश्चैव सिद्धनागेश्वरोदितः ।
गुडूचीसत्त्वयोगेन सर्वपुष्टिकरः स्मृतः ॥
युक्तानुपानसहितः सर्वान् रोगान् विनाशयेत् ॥ ३० ॥

रससिन्दूर का प्रयोग पीपरके चूर्ण और मधुके साथ करनेसे "कफज प्रमेह" नष्ट होता है। त्रिफलाके क्वाथमें खांड मिलाकर उसके साथ प्रयोग करने से "पित्तज प्रमेह" दूर होता है। पीपल, काली मिर्च, सोंठ और भारङ्गीके चूर्ण तथा शहद के साथ देने से 'खांसी, श्वास तथा शूल' को नष्ट करता है। हल्दीका चूर्ण और खांड के साथ देने से 'रक्तविकार' को नष्ट करता है। त्रिकुट (सोंठ, पीपर, मिर्च), त्रिफला (आंवला, हर्रा, बहेड़ा) और बासाके क्वाथके साथ सेवन करने से 'कामला, पाण्डु, और अग्निमान्द्य' को दूर करता है। पीपल, चीताके जड़की छाल, हरड़ और संचर (काला) निमकके साथ देनेसे 'अग्निमान्द्य, हृद्रोग और बद्धकोष्ठता' को नष्ट करता है। शिलाजीत, इलायची और मिश्री के चूर्ण के साथ सेवन करने से मूत्रकृच्छ्र में परम हितकर होता है। 'नागार्जुन' का कहा हुआ यह सत्य ही है। लौंगका चूर्ण, केशर, जावित्री, शुद्धहिङ्गुल, अकरकरा, पीपल और भांग १-१ भाग तथा कपूर, अफीम, और सीसा भस्म आधा २ भाग लेकर यथाविधि चूर्ण बनाकर इसके साथ यथोचित मात्रामें रससिन्दूर का प्रयोग धातुवृद्धि के लिये करना चाहिये। संचर (काला) निमक, लौंग, चिरायता और हरडके चूर्ण के साथ देने से सर्व प्रकारका ज्वर दूर होता है। सौवर्चल (कालानमक) से युक्त त्रिफला के क्वाथ के साथ देने से विरेचन होता है। लौंग, केशर, शुद्ध हिंगुल (सिंगरफ) के चूर्ण में मिलाकर पान में रखकर खाने से या विदारीकन्द के चूर्ण के साथ सेवन करने से धातुवृद्धि के लिये उत्तम होता है। भांग और अजवाइन के चूर्ण के साथ देने से वमन में लाभकर होता है। संचर (काला) निमक, हल्दी, भांग, और अजवाइन के चूर्ण के साथ खिलाने से नवीन उदरपीड़ा को दूर करता है। पलाश के बीज का चूर्ण ४ वल्ल (१॥ माशा) और ३ माशे गुड़ एकत्र कर इसके साथ खिलाने से कृमिविकार दूर होता है। अफीम, लौंग, शुद्धहिंगुल और भांग समान भाग लेकर चूर्ण बनावे तथा इसके साथ 'रससिन्दूर' का सेवन कराने से सर्व प्रकार के अतिसार नष्ट होते हैं। संचर (काला) निमक और अजवाइनके चूर्णके साथ देनेसे अग्निमान्द्य को दूर करनेमें उत्तम होता है तथा क्षुधा (भूख) बढ़ाता है। यह 'सिद्ध नागेश्वर' का कहा हुआ है। गुरुच के सत्तके साथ देने से सभी प्रकार की पुष्टि देता है। और

अन्य भी रोगोंमें रोगानुसार उचित अनुपानके साथ देनेसे लाभप्रद होता है ॥१६-३०॥

यकृदरिलौहम् (बृहत्)-भैषज्यरत्नावल्यां यकृद्रोगे—

पारदं गन्धकं चाभ्रं त्र्यूषणं कटुकीं तथा ।
त्रायमाणां विषां पाठां पिचुमर्दं हरीतकीम् ॥ ३१ ॥
चित्रकं पर्पटं मुस्तं समभागं प्रकल्पयेत् ।
सर्वार्द्धं जारितं लौहं गुडूचीस्वरसैर्दिनम् ॥ ३२ ॥
निष्पिष्य वटिका कार्या त्रिगुञ्जाफलमानतः ।
प्लीहोदरयकृद्गुल्मान् सर्वोपद्रवसंयुतान् ॥ ३३ ॥
ऐकाहिकं द्व्याहिकं वा त्र्याहिकं चातुराहिकम् ।
सर्वाञ्ज्वरान्निहन्त्याशु भक्षणादार्द्रकद्रवैः ॥ ३४ ॥

शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म और सोंठ, मिर्च, पीपल, कुटकी, त्रायमाणा, अतीस, पाठा, नीम की छाल, हरड़, चीते के जड़ की छाल, पित्तपापड़ा और नागरमोथा इनका चूर्ण १-१ भाग तथा लौहभस्म सबसे आधी (७॥ भाग) लेकर सबको एकत्र मिलाकर १ दिन भर गिलोय के क्वाथ (या स्वरस) में घोंटे और ३-३ रत्ती की गोलियां बनाले । इनके सेवन से संपूर्ण उपद्रवों से युक्त भी प्लीहोदर, यकृत, गुल्म तथा ऐकाहिक, द्व्याहिक, तृतीयक और चातुर्थिक ज्वर नष्ट होता है ॥३१-३४॥

रोहीतकलौहम् (यकृद्रोगे) भैषज्यरत्नावल्याम्—

रोहीतकसमायुक्तं त्रिकत्रययुतन्त्वयः ।
प्लीहानमग्रमांसं च शोथं हन्ति न संशयः ॥ ३५ ॥

रुहेड़े की छाल, हरड, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, पीपर, मिर्च, चीता, नागरमोथा, वायविडङ्ग इनका चूर्ण १-१ भाग तथा लौहभस्म सबके बराबर लेकर सबको एकत्र मिलाकर खरल करे । इसके सेवन से प्लीहा, अग्रमांस और शोथ अवश्य नष्ट हो जाता है ॥३५॥

विद्याधररसः (यकृद्रोगे) रसेन्द्रसारसंग्रहे—

गन्धकं तालकं ताप्यं मृतं ताम्रं मनःशिला ।
शुद्धसूतञ्च तुल्यांशं मर्दयेद्भावयेद्दिनम् ॥ ३६ ॥
पिप्पल्याश्च कषायेण वज्रीक्षीरेण भावयेत् ।
गुञ्जाऽर्द्धं सेवितं क्षौद्रै-र्गुल्मप्लीहादिकं जयेत् ॥ ३७ ॥
रसो विद्याधरो नाम गोदुग्धं च पिबेदनु ॥ ३८ ॥

शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल, स्वर्णमाक्षिक भस्म, ताम्रभस्म, (पाठान्तरानुसार स्वर्णभस्म), शुद्ध मैनसिल और शुद्ध पारा समान भाग लेकर प्रथम पारे और

गन्धक की कज्जली बनावें और फिर उसमें अन्य ओषधियां मिलाकर सबको १-१ दिन पीपल के क्वाथ और मंडुक के दूध में खरल करके आधी २ रत्ती की गोलियां बनालें। इन्हें शहद के साथ सेवन करने से गुल्म और प्लीहादिका नाश होता है। इसीको 'विद्याधर' रस कहते हैं। इसके खाने पर गोदुग्ध तुरन्त पीना चाहिये॥ ३३-३८॥

रसराजः (यकृद्रोगे) भैषज्यरत्नावल्याम् प्लीहाधिकारे—

गन्धकेन मृतं ताम्रं शुद्धगन्धकतुल्यकम्।
द्वयोः पादं शुद्धरसं मर्दयेच्छूरणद्रवैः॥ ३९॥
पुटेल्लघुपुटे विद्वान् स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत्।
गुञ्जाऽर्द्धं विलिहेत्क्षौद्रैः प्लीहगुल्मविनाशनम्॥ ४०॥
यकृच्छूलं ज्वरं हन्ति कान्तिपुष्टिविवर्द्धनः।
रसराज इति ख्यातो रोगवारणकेशरी॥ ४१॥

गन्धक के योग से बनी हुई ताम्रभस्म २ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग और शुद्ध पारा १ भाग लेकर सबको एकत्र मिलाकर सूरन (जमीकन्द) के रस में खरल करें। और फिर उसे शरावसंपुट में बन्द करके लघुपुट में फूंक दें। तदनन्तर पुट के स्वांगशीतल होने पर उसमें से औषध को निकाल कर पीसलें। इसे ½ रत्ती की मात्रा में शहद के साथ लेने से प्लीहा, गुल्म, यकृच्छूल और ज्वर नष्ट होता है तथा कान्ति और पुष्टि की वृद्धि होती है॥ ३९-४१॥

रसचूर्णम् यकृद्रोगे—

यह वैज्ञानिक-रीति से तैयार किया हुआ पारद भस्म है। इसे कैलोमेल Calomel कहते हैं। इसका प्रयोग विरेचन के लिये किया जाता है। अथवा शुद्ध पारद में २ गुनी खड़िया मिलाकर जो पारद चूर्ण बनता है उसे रसचूर्ण कहते हैं। यही विरेचनार्थ उत्तम होता है।

अहिफेनासवः (यकृद्रोगिणां विद्रधौ शल्यचिकित्साऽनन्तरं प्रयोगार्हः)

भैषज्यरत्नावलीस्थोऽतिसाराधिकारे—

तुलां मधूकमद्यस्य शुभे भाण्डे परिक्षिपेत्।
फणिफेनस्य कुडवं मुस्तकं पलसंमितम्॥ ४२॥
जातीफलं चेन्द्रयवं तथैलां तत्र दापयेत्।
रुद्ध्वा भाण्डं मासमात्रं यत्नतः परिरक्षयेत्॥
हन्त्यतीसारमत्युग्रं विसूचीमपि दारुणाम्॥ ४३॥

महुये की सुरा ५ सेर अच्छे मृत्पात्र में रखकर उसमें अफीम १६ तोला और

नागरमोथा, जायफल, इन्द्रजौ तथा बड़ी इलायची का चूर्ण प्रत्येक ४-४ तोला डाल देवे। इसके बाद पात्र का मुख बन्द करके यत्नपूर्वक आसवनिर्माणविधि के अनुसार रख देवें, १ मास के बाद निकाल कर छान कर काम में लेवे। यह 'अहिफेनासव' पुराने और बहुत ज्यादा बढ़े हुये दस्त तथा भयङ्कर हैजे को दूर करता है। मात्रा-२ से ७ बूंद तक है॥ ४१-४३॥

औपसर्गिकामयदृष्टे-रसकर्पूरनिर्माणविधिः (योगतरङ्गिण्यां १५ वे तरङ्गे)—

यन्त्रे तु सज्जे डमरूसमाख्ये-निधाय सूतस्य पलानि पञ्च।
वल्मीकमृत्स्नाखटिकेष्टिकानां-सगैरिकाणां तुवरीयुतानाम्॥ ४४॥
ससैन्धवानां समभागिकानां-चूर्णाढकं चोपरितो विदध्यात्।
अम्लेन दध्ना माहिषीभवेन-पिष्टं रसोनस्य शरावमेकम्॥ ४५॥
ऽनक्रेणात्र निधाय खण्डै-राच्छादयेत्खर्परजैर्विसन्धिः।
चूर्णाम्लिप्तोदरमूर्ध्वभाण्डं-संस्थाप्य संमुद्र्य दृढं सुचुल्ल्याम्॥ ४६॥
प्रज्वालयेद्वह्निमथः क्रमेण-संस्थाप्य यन्त्रोपरि वस्त्रमार्द्रम्।
वह्निं प्रदद्यादिनपट्कमत्र-रसस्वाङ्गशीतं परिगृह्य बुद्धया॥ ४७॥
तं द्रोणपुष्पीपयसा प्रपिष्ट-कूप्यां विदध्यान्नवसादरं च।
कर्षप्रमाणं प्रहरत्रयं च-वह्निं प्रदद्यादथ शीतलाङ्गीम्॥ ४८॥
निष्कास्य कूपीं सिकताख्ययन्त्रा-दास्फोट्य कण्ठस्थममुं प्रगृह्य।
कर्पूरनामा रसनायकोऽयं-वल्लः पुराणेन गुडेन भुक्तः॥ ४९॥
निर्वातभाजा सरुजा च पथ्य-शीलेन कुष्ठामयनाशनः स्यात्॥ ५०॥

फिरङ्गकरिकेशरी सकलकुष्ठकालानलोऽ-
खिलव्रणविनाशकृद् व्रणजगर्त्तपूर्त्तिप्रदः।
सुवर्णसमवर्णकृद् बलहुताशतेजस्करः-
समस्तगदतस्करो रसपतिः सकर्पूरकः॥ ५१॥

वल्मीकमृत्तिका (विमवट की मिट्टी), खड़िया, ईंट का चूरा, गेरू, फिटकिरी और सेंधानिमक इनका चूर्ण समान भाग लेकर सबको एकत्र मिलालें। कपड़मिट्टी की हुई एक मजबूत हांडी में २० तोले शुद्ध पारद डालकर उसके ऊपर उपर्युक्त वल्मीक मृत्तिका आदिका मिश्रण ४ सेर डालें और फिर भैंस के खट्टे दही में लहसुन को पीसकर उससे बना हुवा शराव (कसोरा) उसके ऊपर ढकदें। तथा सन्धिस्थान पर मिट्टी के ठीकरे रखकर अच्छी तरह बन्द करदें। तत्पश्चात् एक हांडी के भीतर चूने का लेप करके उसे उपर्युक्त हांडी पर उल्टी ढकदें। और दोनों की सन्धि को कपड़ मिट्टी से या गुड़-चूने आदि से अच्छी तरह बन्द करदें। अब इस यन्त्र को

चूल्हे पर चढ़ाकर उसके नीचे क्रमवर्द्धित अग्नि जलावें और ऊपर की हांडीपर भीगा कपड़ा रक्खें। ज्यों ही कपड़ा गरम होकर सूख जाय त्यों ही उसे ठण्डे पानी में भिगोकर ठण्डा करते रहें। इस प्रकार छः दिन तक अग्नि जलाने के बाद यन्त्र के स्वाङ्गशीतल होनेपर उसे खोलकर ऊपर की हांडी में लगे हुये रस को निकाल लें। तदनन्तर उस रस में १। तोला नौसादर मिलाकर दोनों को लोहकूपी (मूषा) के रूप में बांधकर कपड़मिट्टी की हुई आतशी शीशी में भरें और उसे 'बालुका यन्त्र' में रखकर ३ पहर की अग्नि दें। इसके पश्चात् यन्त्र के स्वाङ्गशीतल होने पर उसमें से शीशी को निकाल कर उसे सावधानी-पूर्वक तोड़कर उसके गले में लगे हुये 'रसकपूर' को निकाल लें। मात्रा-१ रत्ती। इसे पुराने गुड़ में लपेट कर खाना चाहिये। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि औषध दांत में नहीं लगना चाहिये। इसके सेवन से समस्त प्रकार के कुष्ठ और व्रण नष्ट होते हैं। यह रस फिरङ्ग रोग (उपदंश) में अत्यन्त उपयोगी है। इसके सेवन से शरीर काञ्चन सदृश तेजवान होता है और अग्नि दीप्त होती है। (पथ्य—लवण, खटाई, आदि से रहित बेसन की रोटी और घी खाना तथा धूप, परिश्रम आदि से बचना चाहिये। मात्रा का निर्णय रोगी की अवस्था देखकर करना चाहिये) ॥ ४९-५१ ॥

अमृतसारलौहं रसायनाधिकारोक्तं चक्रदत्तात्, स्नायुगुल्मे योनिकन्दरोगे च—

नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।
तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद्विशदाक्षरैर्ब्रूमः ॥ ५२ ॥
मेने मुनिः स्वतन्त्रे यः पाकं न पलपञ्चकादर्वाक्।
सुबहुप्रयोगदोषा-दूर्ध्वं च पलत्रयोदशकात् ॥ ५३ ॥
तत्रायसि पचनीये पञ्चपलादौ त्रयोदशपलान्ते।
लोहात्त्रिगुणा त्रिफला ग्राह्या षड्भिः पलैरधिका ॥ ५४ ॥
मारणपुटनस्थाली-पाकास्त्रिफलैकभागसंपाद्याः।
त्रिफलाभागद्वितयं ग्रहणीयं लौहपाकार्थम् ॥ ५५ ॥

बौद्धमुनि 'नागार्जुन' ने अत्यन्त कठिन जिस लौहशास्त्र का उपदेश दिया था, उसका विस्तार-पूर्वक वर्णन करते हैं। उन्हों ने लौहप्रयोग के लिये एक बारमें ५ पल (२० तोले) से कम तथा १३ पल से अधिक लौह के पाकका विधान नहीं किया है। जितना लौह हो उसका तिगुना और ६ पल अधिक जैसे-१० पल लौह के लिये ३० पल तथा ६ पल अधिक-३६ पल त्रिफला लेकर तीन भागों में विभक्त करना चाहिये। १ भाग से मारण, पुट तथा स्थालीपाक करना चाहिये। शेष २ भाग लौह के प्रधान पाक के लिये रखना चाहिये ॥ ५२-५५ ॥

क्वाथार्थं जलमानम्—

सर्वत्राय:पुटना-द्यर्थैकांशे शरावसंख्यातम् ।
प्रतिपलमेव त्रिगुणं पाथ: क्वाथार्थमादेयम् ॥ ५६ ॥
सप्तपलादौ भागे पञ्चदशान्तेऽम्भसां शरावैश्च ।
त्र्याद्यैकादशकान्तै-रधिकं तद्वारि कर्त्तव्यम् ॥ ५७ ॥
तत्राष्टमस्तु भाग: शेष: क्वाथस्य यत्नत: स्थाप्य: ।
तेन हि मारण-पुटन-स्थालीपाका भविष्यन्ति ॥ ५८ ॥

एक तृतीयांश भाग त्रिफला क्वाथ बनाने के लिये एक पल के पीछे ३ प्रस्थ जल छोड़ना चाहिये । ७ से १५ पल त्रिफला में पूर्व वर्णित मान से क्रम से ३-से ११ शराव तक अधिक जल देना चाहिये । यथा ७ पल के लिये ७×३=२१+३=२४ शराव जल का ग्रहण क्वाथ बनाने के लिये करना चाहिये । ८ पल त्रिफला का क्वाथ करने के लिये ८×३=२४+४=२८ शराव जल । ९ के लिये ९+३=२७+५=३२ शराव जल । १० पल त्रिफला में १०×३=३०+६=३६ शराव जल । ११ पल में ११×३=३३+७=४० शराव जल । १२ पल में १२×३=३६+८=४४ शराव जल । १३ पल में १३×३=३९+९=४८ शराव जल । १४ पल में १४×३=४२+१०=५२ शराव जल । और १५ पल त्रिफला में १५×३=४५+११=५६ शराव जल लेकर क्वाथ करना चाहिये । अष्टमांशावशिष्ट उतार कर मारण, पुटपाक तथा स्थाली-पाक करना चाहिये । त्रिफला क्वाथ की यह विधि साधारण पाक के लिये बताई गई है ॥ ५६-५८ ॥

प्रधाननिष्पत्तिपाकार्थं त्रिफलाभागद्वयस्य क्वाथविधि:—

पाकार्थं तु त्रिफला भागद्वितये शरावसंख्यातम् ।
प्रतिपलमम्बुसमं स्या-दधिकं द्वाभ्यां शरावाभ्याम् ॥ ५९ ॥
तत्र चतुर्थो भाग: शेषो निपुणै: प्रयत्नतो ग्राह्य: ।
अयस: पाकार्थत्वात् स च सर्वस्मात् प्रधानतम: ॥ ६० ॥

बाकी दो तृतीयांश त्रिफला का जो कि प्रधान पाक के लिये रक्खा गया है । १ पल में १ शराव के परिमाण में और २ शराव अधिक जल लेकर चतुर्थांशावशिष्ट कषाय तैयार करना चाहिये । लौहके प्रधान पाक में व्यवहृत होने के कारण इसका नाम भी प्रधान क्वाथ है ॥ ५९-६० ॥

प्रधाननिष्पत्तिपाकार्थं दुग्धपाक:—

पाकार्थमश्मसारे पञ्चपलादौ त्रयोदशपलान्ते ।
दुग्धशरावद्वितयं पादैरेकादिकैरधिकम् ॥ ६१ ॥

लौह के प्रधानपाक में त्रिफला की भांति दुग्ध भी लेते हैं। प्रधान लौहपाकार्थ ५ से १३ पल लौहके लिये दुग्ध प्रतिपल २ शराव लेना चाहिये। तथा १ पल वृद्धि के पीछे $\frac{1}{4}$ शराव अधिक दूध लेना चाहिये। यथा ५ पल में २। शराव, ६ में २॥ शराव, ७ पल लौह में २।।। और ८ पल लौह में ३ शराव। इसी प्रकार १३ पल लौह के लिये दुग्ध की मात्रा निकाल लेनी चाहिये ॥ ६१ ॥

पाकार्थं लौहपरिमाणे विशेषवक्तव्यम्—

पञ्चपलादिकमात्रा तदभावे तदनुसारतो ग्राह्यम् ।
चतुरादिकमेकान्तं शक्तावधिकं त्रयोदशकात् ॥ ६२ ॥

लौहपाक के लिये सामान्य मात्रा ५ पल की है, किन्तु शक्ति न होनेपर ४ से १ पल तक तथा शक्ति अधिक हो तो १३ पल से अधिक मात्रा भी पाकार्थ ले सकते हैं। यहां पर भी लौहपाक के लिये पूर्ववर्णित विधि (तिगुने से ६ पल अधिक) का ही अवलम्बन करना चाहिये। अर्थात् यदि १ पल लौह का पाक करना हो तो त्रिफला १×३=३+६=९ पल लेना चाहिये और त्रिफला का तृतीयांश लेकर ३×३=९+१=१० शराव जल में पाक कर १। सेर शेष रहने पर उतार ले। इसी प्रकार २ पल लौह के लिये (२×३=६+६)=१२ पल त्रिफला का तृतीयांश ४ पल पाकार्थ जल (४×३=१२+१$\frac{1}{2}$शराव)=१३$\frac{1}{2}$ शराव लेकर पकाकर १ सेर १ छटाक रहने पर उतार लें। इसी प्रकार आगे भी लौहपाक के लिये लौह से तिगुनी से ६ पल अधिक त्रिफला लेनी चाहिये। इसका २ भाग प्रधान लौह पाक के लिये रखकर एक भाग त्रिफला लेकर ऊपर वर्णन किये हुये क्रम से त्रिफला के प्रत्येक पल-वृद्धि के साथ ही जल की मात्रा भी त्रिफला की तिगुनी से चौथाई शराव अधिक यथा ३ पल लौह के लिये ६ पल अधिक तिगुनी त्रिफला (३×३=९+६)=१५ पल उसका १ तिहाई ५ पल त्रिफला हुई इसका पाक करने के लिये जल (५×३)=१५ पल शराव से १।।। शराव अधिक अर्थात् १६।।। शराव जल लेकर क्वाथ करें तथा १॥। शराव रहने पर उतार लेवें। इसके आगे भी इसी अनुपात से त्रिफला-क्वाथ करना चाहिये। तथा लौह के प्रधान निष्पत्ति-पाक के लिये पूर्ववर्णित (प्रधानपाकोक्त) नियम समझना चाहिये। अर्थात् स्थालीपाक से अवशिष्ट त्रिफला २ भाग को लेकर जितने पल त्रिफला हो उतना ही शराव तथा २ शराव अधिक जल लेकर चतुर्थांशाव शेष क्वाथ करें। उदाहरण के लिये-१ पल लौह के लिये त्रिफला (बची हुई) ६ पल पाकार्थं जल ६ शराव+२ सेर अर्थात् ८ शराव के साथ क्वाथ कर २ शराव रहने पर उतार लेवें। इसी प्रकार ४ पल लौह के लिये त्रिफला १२ पल, पाकार्थं जल १२+२=१४ शराव, शेष क्वाथ ३॥ शराव। इसी प्रकार २–३ पल लौह के लिये भी त्रिफला तथा क्वाथ्य जल का अनुपात निकाल लेना चाहिये। लौह के प्रधान निष्पत्ति पाक

के लिये दूध १ पल लौह के लिये १। शराव, २ पल लौह के लिये दूध १॥ शराव तथा ३ पल लौह के लिये १॥। पौने दो शराव, ४ पल लौह के लिये दूध २ शराव लेना चाहिये। लौह के मारण, पुटपाक तथा स्थालीपाक के लिये १४ पल लौह के लिये (१४×३=४२+६)=४८÷३=१६ पल त्रिफला, पाकार्थ जल (१६×३)=४८ शराव अधिक २ शराव जल को पकाकर अष्टमांशावशेष उतारे। १५ पल लौह के लिये त्रिफला १७ पल, पाकार्थ जल (१७×३=५१) शराव अधिक २ शराव लेकर कुल ५३, अष्टमांशावशेष क्वाथ करें। १६ पल लौह के लिये त्रिफला १८ पल, जल (१८×३)=५४ शराव अधिक २ शराव ५६ शराव लेकर पकावें, अष्टमांशावशेष रहने पर उतार लें।

प्रधान निष्पत्तिपाक के लिये लौह १४ पल, त्रिफला ३२ पल, क्वाथार्थं जल ३२ शराव अधिक जल २ शराव, कुल ३४ शराव, अष्टमांशावशेष रहने पर उतारें। इसी अनुपात से १५ पल १६ पल आदि लौह के लिये भी क्वाथ्य त्रिफला तथा जल लेना चाहिये।

प्रधान पाक के लिये दूध १४ पल के लिये २। शराव, १५ पल के लिये दूध २॥ शराव तथा १६ पल लौह के लिये १॥। शराव दूध। इसी अनुपात से और अधिक लौहके लिये दूधकी मात्रा लेनी चाहिये ॥ ६२ ॥

प्रक्षेप्यौषधपरिगणना—

त्रिफलात्रिकटुकचित्रक-कान्तकामकविडङ्गचूर्णानि ।
जातिफलजातिकोषै-लाकक्कोलकलवङ्गानाम् ॥ ६३ ॥
सितकृष्णजीरयोरपि-चूर्णान्ययसा समानि स्युः ।
त्रिफलात्रिकटुविडङ्गा-नियता अन्ये यथाप्रकृति ॥ ६४ ॥

कृष्ण लौह के दोषों को दूर करने के लिये त्रिफला, सोंठ, मिर्च, पीपल, चीता की जड़, नागरमोथा, वायविडङ्ग, जायफल, जावित्री, इलायची छोटी, कक्कोल (शीतलचीनी), लवङ्ग, जीरा सफेद और स्याह जीरा इन सब का चूर्ण लौह के बराबर लेना चाहिये। त्रिफला, त्रिकटु, तथा वायविडङ्ग पाक के लिये अत्यन्त आवश्यक है, शेष द्रव्य आतुर के दोष तथा प्रकृति का विवेचन करके लेना चाहिये ॥६३-६४॥

यथालाभं प्रक्षेप्यौषधगणना—

कालायसदोषहृते जातीफलादेर्लवङ्गान्तस्य ।
क्षेपप्राप्त्यनुरूपः सर्वस्योऽन्यस्य चैकाद्यैः ॥ ६५ ॥

कृष्ण लौह के दोष को दूर करने के लिये जायफल से लेकर लौंग पर्यन्त जो औषधियां हैं, उन में से जो एकाध औषधियां न मिलें तो जितनी मिल सकती हों उनका ही उपयोग करना चाहिये ॥ ६५ ॥

कान्तक्रामकमेकं निःशेषं दोषमपहरत्ययसः ॥ ६६ ॥

नागरमोथा अकेला भी लोह के दोषों को दूर करने में समर्थ है। अतः इसे अवश्य लेना चाहिये ॥ ६६ ॥

घृतमानम्—

द्विगुणस्त्रिगुणश्चतुर्गुणो–ऽयसो ग्राह्यं यथाप्रकृति ॥ ६७ ॥

कफ, पित्त तथा वातप्रकृति के अनुसार दुगुना, तिगुना तथा चौगुना घी पाक के लिये लेना चाहिये (कोई के निरग्निपाक में प्रथम पात्र में घृत डालते हैं, फिर लोहचूर्ण तत्पश्चात् त्रिफला कषाय और स्वरस अन्त में घृत मिलाकर पाक करते हैं) ॥ ६७ ॥

मिलितमानेन प्रक्षेप्यभेषजानामयःसाम्यम्—

यदि भेषजभूयस्त्वं स्तोकत्वं वा तथाऽपि चूर्णानाम् ।

अयसा साम्यं संख्या भूयोऽल्पत्वेन भूयोऽल्पा ॥ ६८ ॥

अधिक औषधियां मिल जांय तो थोड़ा २ सबका चूर्ण लेना चाहिये। किन्तु यदि कम मिलें तो उनको अधिक मात्रा में देना चाहिये। जिससे सर्वथा चूर्ण लोह के बराबर ही रहे ॥ ६८ ॥

एवं धात्वनुसारात् तत्तत्कथितौषधस्य बाधेन ।

सर्वत्रैव विधेय–स्तत्तत्कथितस्यौषधस्योहः ॥ ६९ ॥

इति साम्यसाधनपरिमाणविधिः ।

आतुर की प्रकृति को देखते हुये लिखी हुई औषधियों में से जो हानिकर हों उन्हें निकाल सकते हैं तथा अन्य इस योग के बाहर की उचित औषधों को ग्रहण कर सकते हैं ॥ ६९ ॥

अथ लौहमारणविधिः—

कान्तादिलौहमारण–विधानसर्वस्वमुच्यते तावत् ।

यस्य कृते तल्लौहं पक्तव्यं तस्य शुभदिवसे ॥ ७० ॥

समृदङ्गारकरालित–नतभूभागे शिवं समभ्यर्च्य ।

वैदिकविधिना वह्निं–निधाय हुत्वाऽऽहुतीस्तत्र ॥ ७१ ॥

धर्मात् सिद्धयति सर्व–श्रेयस्तद्धर्मसिद्धये किमपि ।

शक्त्यनुरूपं दद्याद् द्विजाय संतोषिणे गुणिने ॥

संतोष्य कर्मकारं प्रसादपूगादिदानसंमानैः ॥ ७२ ॥

कान्तलौह के मारण की विधि का वर्णन किया जाता है—जिस पुरुष के लिये लौहपाक करना हो उसके लिये शुभ दिन में मिट्टी तथा अङ्गारों से लिपी हुई भूमि

में शिवजी की विधिपूर्वक पूजा करके वैदिकविधि से अग्नि की स्थापना करके आहुति डालना चाहिये । धर्म से ही सब प्रकार का कल्याण होता है । अतः इस पाक की सिद्धि के लिये गुणयुक्त और सन्तोषी ब्राह्मण को शक्ति के अनुसार दान देना चाहिये । और धौंकनी आदि बनाने तथा आग लगाने वाले को प्रसाद, सुपारी आदि द्रव्य देकर सन्तुष्ट करे ॥ ७०-७२ ॥

लौहशोधनम्—

आदौ तदश्मसारं निर्मलमेकान्ततः कुर्यात् ॥ ७३ ॥

प्रथम लौह का (१) शोधन करना चाहिये । शोधन के लिये इमली की पत्तियों का रस या त्रिफला क्वाथ तथा गोमूत्र में स्वेदन करना चाहिये ॥ ७३ ॥

लौहमारणम्—

तदनु कुठारच्छिन्न-त्रिफलागिरिकर्णिकाऽस्थिसंहारैः ।
करिकर्णच्छदमूलक-शतावरीकेशराजाख्यैः ॥ ७४ ॥
शालिञ्चमूलकाशी-मूलप्रावृड्जभृङ्गराजैश्च ।
लिप्त्वा दग्धव्यं तद्-दृष्टक्रियलोहकारेण ॥ ७५ ॥

इसके बाद कन्दगुडूची, त्रिफला, श्वेतापराजिता (सफेद कोयल), हड़जोड़, हस्तिकर्णपलाशके पत्ते तथा जड़, शतावर, भांगरा काला, शालिञ्चशाक का मूल, कासकी जड़, पुनर्नवा तथा भांगरा इनको पीसकर कल्क बनाकर लौहपर लेपकर सुखाना चाहिये। इसे भट्ठी में धौंकनी द्वारा जलाना चाहिये (यहां पर मारकगण में जो कन्दगुडूची आदिक औषधें गिनाई गई हैं उनका १६ वां हिस्सा वा आधा स्वर्णमाक्षिक भी लेना चाहिये । पतञ्जलि मतानुसार मारकद्रव्य का आधा स्वर्णमाक्षिक तथा इसकी आधी मैनशिल को अम्लरस से पीसकर तथा अन्य मारक द्रव्यों से युक्तकर उससे लौह का मारण करना चाहिये) ॥ ७४-७५ ॥

---

(१) लौह के पतले पत्तरों को लेकर इस पर चाङ्गेरी स्वरस, बिजौरा नीबू का रस तथा अम्लबेत का रस इनका ७—७ बार लेप करे । इनको धूप में सुखा लें । २—३ दिन कांजी में भिगो कर रक्खे । इसके पश्चात् गोमूत्र के साथ पीसे गये त्रिफला के कल्क का लेप कर के धूप में सुखा लें । इसके पश्चात मैनसिल, वल्मीक मृत्तिका, कुठारिका (एक प्रकार की ओषधि या गुडूची कन्द), चांगेरी के पत्ते, सफेद दूब तथा सेंधा नमक इनको अलग अलग जल में पीस कर कल्क बना कर लौह-पत्र पर लेप करके धूप में सुखा लें। अँगीठी जला कर लौह के पत्रों को तप्त अंगारों के बीच में रख कर धौंकनी से धौंकना चाहिये रक्ततप्त होने पर इसे त्रिफला क्वाथ में बुझाना चाहिये। इस प्रकार ७ बार करने से लौह शुद्ध होता है। 'रसतरङ्गिणी' तथा 'रसकामधेनु' में लौहशुद्धि की सरल प्रक्रियायें दी गई हैं, उन्हें वहीं से देख लें।

वह्निप्रदानक्रमः—

चिरजलभावितनिर्मल-शालाङ्गारेण परित आच्छाद्य ।
कुशलाध्मापितभस्त्राऽ-नवरतमुक्तेन पवनेन ॥ ७६ ॥
वह्नेर्बाह्यज्वाला बोद्धव्या जातु नैव कुश्चिकया ।
मृल्लवणसलिलभाजा किन्तु स्वच्छाम्बुसंप्लुतया ॥ ७७ ॥

अग्नि जलाने की विधि के अनुसार कुछ दिन (१२ दिन) तक जल में भावित शाल के कोयलों को भट्टी में बिछाकर उसके बीच में लोह रखना चाहिये। फिर अग्नि प्रज्वलित करके धोंकना चाहिये। अग्नि उद्दीप्त करने के लिये बांस की नली का प्रयोग करना हो तो वह नली नमक तथा मिट्टी रहित और स्वच्छ जल से धोई हुई होनी चाहिये ॥ ७६-७७ ॥

शुद्धेरावश्यकता—

द्रव्यान्तरसंयोगात् स्वां शक्तिं भेषजानि मुञ्चन्ति ।
मलधूलीमत् सर्वं सर्वत्र विवर्जयेत् तस्मात् ॥ ७८ ॥

अन्य द्रव्यों के संमिश्रण होने से ओषधियों का गुण कम होजाता है। अत एव अन्य पदार्थों से युक्त वस्तुओं को व्यवहृत न करें ॥ ७८ ॥

लौहनिर्वापणम्—

सन्दंशेन गृहीत्वाऽ-न्तः प्रज्वालिताग्निमुपनीय ।
गलति यथायथम् तथैव मृदु वर्धयेन्निपुणः ॥ ७९ ॥
तलनिहितोर्ध्वमुखाङ्कुश-लग्नं त्रिफलाजले विनिक्षिप्य ।
निर्वापयेदशेषं शेषं त्रिफलाऽम्बु रक्षेच्च ॥ ८० ॥
यल्लौहं न मृतं तत् पुनरपि पक्तव्यमुक्तमार्गेण ।
यन्न मृतं तथाऽपि तत्-त्यक्तव्यमलौहमेव हि तत् ॥ ८१ ॥

इति लौहमारणविधिः ।

लौह के पत्तरों को दहकती हुई भट्टी के बीच में रखना चाहिये। इस प्रकार ज्यों २ द्रवीभूत होता जाय नये पत्तर रखते जाना चाहिये तथा द्रव हो जाने पर नीचे रखे हुये ऊर्ध्वमुख वाले अङ्कुश (तलस्थ पात्र) को उठाकर लौह को त्रिफला के क्वाथ में बुझा देना चाहिये। इस प्रकार ७ बार करने से लौह का मारण होता है। जिस लौह का मारण पूर्ण न हुवा हो उसे फिर इसी विधि से द्रवित करके त्रिफला क्वाथ में बुझाना चाहिये। यदि इससे भी कुछ लौह न मरे तो उसको हेय समझ कर त्याग देना चाहिये। क्योंकि वह शुद्ध लौह नहीं है ॥ ७९-८१ ॥

भानुपाकः—

तदनु घनलौहपात्रे कालायसमुद्गरेण संचूर्ण्य ।
दत्त्वा बहुशः सलिलं प्रक्षाल्याङ्गारमुद्धृत्य ॥ ८२ ॥
तदयः केवलमग्नौ शुष्कीकृत्याथवाऽऽतपे पश्चात् ।
लोहशिलायां पिंष्या-दसितेऽश्मनि वा तदप्राप्तौ ॥ ८३ ॥

इसके बाद लोहे के पात्र (खरल) में रखकर चूर्ण करके कई बार पानी से धोकर कोयले आदि को पृथक् करना चाहिये। उस लोह को अग्नि या धूप में सुखाकर फिर लोहे की सिल तथा इसके अभावमें काले पत्थर की सिल (आजकल लोहे के खरल उत्तम हैं) पर पीसना चाहिये। लोह का चूर्ण को धूप में त्रिफला क्वाथ के साथ घोंटकर सुखाना 'भानुपाक' कहा जाता है। भानुपाक में लोह के समान भाग त्रिफला को दूने जल के साथ पकाकर पादावशेष उतारना चाहिये। लौह का प्रक्षालन करने के लिये भी इसी अनुपात से क्वाथ करें ॥ ८२-८३ ॥

स्थालीपाकः—

अथ कृत्वाऽयोभाण्डे दत्त्वा त्रिफलाऽम्बु शेषमन्यद्वा ।
प्रथमं स्थालीपाकं दद्यादा तत्क्षयात् तदनु ॥ ८४ ॥
गजकर्णपत्रमूलक-शतावरीभृङ्गकेशराजरसैः ।
प्राग्वत् स्थालीपाकं कुर्यात् प्रत्येकमेकं वा ॥ ८५ ॥

लोहे की कड़ाही में बचे हुये त्रिफला का क्वाथ लेकर और खराब हो जानेपर ताजा क्वाथ बनाकर उसमें लौह को पकाना चाहिये। क्वाथ जल जानेपर उतार कर हस्तिकर्ण का पत्ता तथा जड़, शतावर, भांगरा तथा केशराज (भांगरे का भेद) का त्रिफला की भांति क्वाथ बनाकर पहले त्रिफला क्वाथ के समान मात्रा में लेकर पृथक् २ अथवा सबका क्वाथ बनाकर पाक करें ॥ ८४-८५ ॥

पुटपाकविधिः—

हस्तप्रमाणवदनं श्वभ्रं हस्तैकखाति सममध्यम् ।
कृत्वा कटाहसदृशं तत्र करीषं तुषं च काष्ठञ्च ॥ ८६ ॥
अन्तर्घनतरमर्द्धं शुषिरं परिपूर्य दहनमायोज्यम् ।
पश्चादयसश्चूर्णं श्लक्ष्णं पङ्कोपमं कुर्यात् ॥ ८७ ॥
त्रिफलाऽम्बुभृङ्गकेशर-शतावरीकन्दमाणसहजरसैः ।
भल्लातककरिकर्ण-च्छदमूलपुनर्नवास्वरसैः ॥ ८८ ॥
क्षिप्त्वाऽथ लौहपात्रे मार्दे वा लौहमार्दपात्राभ्याम् ।
तुल्याभ्यां पृष्ठेना-च्छाद्यान्ते रन्ध्रमालिप्य ॥ ८९ ॥

तत्पुटपात्रं तत्र श्वभ्रज्वलने निधाय भूयोभिः ।
काष्ठकरीषतुषैस्तत् संछाद्याहर्निशं दहेत् प्राज्ञः ॥ ९० ॥
एवं नवभिरमीभि-र्भेषजराजैः पचेत् पुटपाकम् ।
प्रत्येकमेकशोभि-र्मिलितैर्वा त्रिचतुरान् वारान् ॥ ९१ ॥
प्रतिपुटनं तत् पिष्यात् स्थालीपाके विधाय तथैव ततः ।
तादृशि दृषदि न पिष्याद्-विगलद्रजसा तु घुष्यते यत्र ॥ ९२ ॥
तद्वच्चूर्णं पिष्टं घृष्टं यत्सूक्ष्मवाससि श्लक्ष्णम् ।
यदि रजसा सदृशं स्यात् केतक्यास्तदिदं भद्रम् ॥ ९३ ॥
पुटने स्थालीपाके ह्यविकृतपुरुषं स्वभावरुगधिगमात् ।
कथितमपि हेयमौषध-मुचितमुपादेयमन्यदपि ॥ ९४ ॥

पुटपाक के लिये १ हाथ का लम्बा तथा इतना ही चौड़ा एक गड्ढा खोदना चाहिये । उसके बीच की भूमि सम रहे तथा उसका मुख कड़ाह की भांति गोल हो । गढ़े को बनकण्डे, भूसी तथा लकड़ियों से आधा भरदें तथा अग्नि जलादें । और त्रिफलाक्वाथ, भंगरा, नागकेशर, शतावर, सूरणकन्द, मानकन्द, भिलावा, हस्तिकर्णपलाश की जड़ तथा पुनर्नवा इनके स्वरसकी भावना देकर लोह की टिकिया बनाकर सुखालें । इसे शकोर के सम्पुट में बन्द करके खातके बीच रखना चाहिये । बनकण्डों, भूसी या लकड़ियों से खातको भरकर दिनभर या रातभर अग्नि प्रज्वलित कर पुट देना चाहिये । उपर्युक्त त्रिफला आदि औषधों में से एक २ के साथ तीन २ या चार २ बार भावना दे देकर पुट देना चाहिये । प्रत्येक पुट में क्वाथ के साथ लौह को लोहे के खरल में रगड़ना तथा धूप में सुखाना चाहिये । इस प्रकार पुट देकर लौहको चूर्णकर कपड़े से छान लेना चाहिये । इस तरह लौह यदि केतकी के पराग की भांति सूक्ष्म हो जाय तो भस्म उत्तम हुवा समझना चाहिये । पुटपाक तथा स्थालीपाक आदि में रोगी की प्रकृति तथा व्याधि को देखते हुये जो उचित हो यदि उनका वर्णन यहांपर न हुवा हो तो भी ले लेना चाहिये । एवम् जो अहितकर हों तो यहां पर लिखी होने पर भी उन्हें नहीं ग्रहण करना चाहिये ॥ ८९-९४ ॥

लोहनिष्पत्तिपाकः—

अभ्यस्तकर्मविधिभि-र्वालिकुशाग्रीयबुद्धिभिरलक्ष्यम् ।
लोहस्य पाकमधुना नागार्जुनशिष्टमभिदध्मः ॥ ९५ ॥
लोहारकूटताम्रक-टाहे दृढमृण्मये प्रणम्य शिवम् ।
तदयः पचेदचपलः काष्ठेन्धनेन वह्निना मृदुना ॥ ९६ ॥
निक्षिप्य त्रिफलाजल-मुदितं यत्तद् घृतं च दुग्धञ्च ।

सञ्चाल्य लौहमय्या दर्व्या लग्नं समुत्पाट्य ॥ ९७ ॥

इसके पश्चात् कुशाग्रबुद्धि तथा दृष्टकर्मा वैद्यों के लिये भी दुर्गम मुनि नागार्जुन द्वारा उपदिष्ट लौहपाक की विधि लिखते हैं—प्रारम्भ में, शङ्करजी को नमस्कार करके उचित मात्रा में लौह, त्रिफलाक्वाथ, घृत तथा दूध लेकर लोहे, पीतल या तांबे के पात्रमें मन्द आंच पर पाक करै। लौहको कलछी से चलाते रहना चाहिये। जिससे कड़ाही में चिपक न जाय ॥ ९६-९७ ॥

लौहपाकस्य त्रैविध्यम्—

मृदुमध्यमखरभावैः पाकस्त्रिविधोऽत्र वक्ष्यते पुंसाम्।
पित्तसमीरश्लेष्म-प्रकृतीनां मध्यमस्तु समः ॥ ९८ ॥

मृदु, मध्य तथा खर भेदसे तीन प्रकार के पाक होते हैं। मृदु-पित्तप्रकृतिके लिये। मध्यपाक—वातप्रकृति के लिये तथा खरपाक—कफप्रकृति के लिये करना चाहिये। तथा जिनकी प्रकृति सम हो उनके लिये मध्यमपाक करना चाहिये।

(यहां पर लौह में प्रथम घृत मिलाना चाहिये फिर दूध और इसके बाद त्रिफला का क्वाथ मिलाकर पकाना चाहिये) ॥ ९८ ॥

त्रिविधलौहपाकलक्षणम्—

अभ्यक्तदर्विलौहं सुखदुःखस्खलनयोगि मृदु मध्यम्।
उज्झितदर्वि खरं परि-भाषन्ते केचिदाचार्याः ॥ ९९ ॥
अन्ये विहीनदर्वी-प्रलेपमाखूत्कराकृति ब्रुवते।
मृदुमध्यमर्द्धचूर्णं सिकतापुञ्जोपमन्तु खरम् ॥ १०० ॥

वह पाक जो कलछी में चिपका रहता है तथा आसानी से उतर जाता है उसे 'मृदुपाक' जिस पाक में लौह कुछ तो आसानी से और कुछ कठिनता से निकले उसे 'मध्यपाक', तथा जिस पाक में लोहा कलछी को विलकुल छोड़ दे उसे कुछ आचार्य 'खरपाक' कहते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि जिस पाक में लौह कलछी में न चिपके और चूहे से प्रक्षिप्त मिट्टी के समान हो उसे 'मृदुपाक', जिस पाक में आधा भाग मूसे से प्रक्षिप्त मिट्टी के समान हो उसे 'मध्यपाक' और जिस पाक में लोहा बालूके समान हो उसे 'खरपाक' कहते हैं ॥ ९९-१०० ॥

त्रिविधलौहपाकविधिः—

त्रिविधोऽपि पाक ईदृक् सर्वेषां गुणकृदेव न तु विफलः।
प्रकृतिविशेषे सूक्ष्मौ गुणदोषौ जनयतीत्यल्पम् ॥ १०१ ॥

इस प्रकार पाक किया हुआ लौह सब के लिये लाभप्रद ही होता है किन्तु प्रकृतिके अनुसार कुछ अधिक तथा कुछ कम लाभ करता है। यथा-वात के लिये मृदुपाक श्रेष्ठ तथा 'खरपाक' उत्तम नहीं है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि

'खरपाक' वात प्रकृति में हानि करता है बल्कि 'मृदुपाक' की अपेक्षा कम लाभ करता है, यही अभिप्राय है। इस प्रकार प्रत्येक में कुछ सूक्ष्म गुण तथा दोष होते हैं। जिसके कारण प्रकृतिके अनुसार देने में वह अधिक लाभ करता है ॥ १०१ ॥

विज्ञाय पाकमेवं प्रागवतार्य क्षितौ क्षणान् कियतः ।
विश्राम्य तत्र लौहे त्रिफलाऽऽद्यैः प्रक्षिपेच्चूर्णम् ॥ १०२ ॥
यदि कर्पूरप्राप्ति-र्भवति ततो विगलिते तदुष्मत्वे ।
चूर्णीकृतमनुरूपं क्षिपेन्न वा न यदि तल्लाभः ॥ १०३ ॥

लौहपाक हो जाने पर कड़ाही को उतार कुछ उष्ण रहते ही त्रिफला आदि औषधों का चूर्ण छोड़ना चाहिये। तथा शीतल होने पर कपूर यदि प्राप्य हो तो उसे छोड़कर मिलाना चाहिये न हो तो कोई आवश्यकता नहीं ॥ १०२-१०३ ॥

पक्वं तदयस्सारं चिरमृतनिस्थित्यभावस्निग्धत्वे ।
गोदोहनादिभाण्डे लौहभाण्डाभावे सति स्थापयेत् ॥ १०४ ॥

पक्व लौहभस्म को कान्तलौह के पात्रमें उसके अभावमें बहुत दिनों तक घृत के पृथक् न होनेके कारण स्निग्ध गायके दुहनेके वर्त्तन आदि में रखना चाहिये ॥१०४॥

लौहाद् घृताहरणम्—

यदि तु परिप्लुतिहेतो-घृतमाशङ्केतातिरिक्तं ततोऽन्यस्मिन् ।
भाण्डे निधाय रक्षेद्-भाव्युपयोगो ह्यनेन महान् ॥ १०५ ॥

लौह के पकाते समय पात्र में यदि घी अधिक हो तथा उसके गिरने की आशंका हो तो उसे दूसरे पात्रमें निकाल कर रख छोड़ना चाहिये इससे अधिक काम होता है। जिस समय लौह रूक्ष मालूम हो उसी समय इसे छोड़ना चाहिये ॥१०५॥

रूक्षलौहे त्रिफलाघृतम्—

अयसि विरूक्षीभूते स्नेहस्त्रिफलाघृतेन संपाद्यः ।
एतत्ततो गुणोत्तर-मित्यमुना स्नेहनीयं तत् ॥ १०६ ॥

यदि लौह रूक्ष हो जाय तथा लौह पाक से बचा हुवा घी न हो तो त्रिफला के क्वाथ (क्वाथार्थ त्रिफला ८ सेर, जल ६४ सेर तथा शेष १६ सेर) तथा कल्क (त्रिफला का कल्क १ सेर) से सिद्ध किये गये घृत (४ सेर) में से आवश्यकतानुसार डालकर उसकी रूक्षता दूर करनी चाहिये। त्रिफलाघृत लौह पाक से बचे हुये घृत से भी अधिक लाभदायक है। अतः इसका प्रयोग करना चाहिये ॥ १०६ ॥

लोहनिष्पत्तिपाकोच्छलितघृतप्रयोगः—

अत्यन्तकफप्रकृते-र्भक्षणमयसोऽमुनैव शंसन्ति ।
केवलमपीदमशितं जनयत्ययसो गुणान् कियतः ॥ १०७ ॥

अत्यन्त कफप्रकृति के मनुष्य को लोहपाक के समय बचे हुये घृत के साथ लौह

का सेवन कराना चाहिये । केवल इसी घृत के सेवन करने से भी लौहके सम्पूर्ण रसायन गुण प्राप्त होते हैं ॥ १०७ ॥

लोहाभ्रकनिष्पत्तिपाकः—

अथवा वक्तव्यविधि संस्कृतकृष्णाभ्रकचूर्णमादाय ।
लौहचतुर्थार्द्धसम-द्वित्रिचतुःपञ्चगुणभागम् ॥ १०८ ॥
प्रक्षिप्यायः प्राग्वत् पचेदुभाभ्यां भवेद्रजो यावत् ।
तावन्मानानुसृतेः स्यात् त्रिफलाऽऽदिद्रव्यपरिमाणम् ॥१०९॥
इदमाप्यायकमिदमति-पित्तनुदिदमेव कान्तिबलजननम् ।
स्तम्नाति तृट्क्षुधौ पर-मधिकाधिकमात्रया क्षिप्रम् ॥ ११० ॥

आगे कही जाने वाली विधि से संस्कारित कृष्ण अभ्रक के भस्म को लौहके चतुर्थांश, आधा, लौह के बराबर, लौह का दूना और तिगुना या पचगुना लेकर लौहके साथ पूर्व लौहपाक-विधि के अनुसार त्रिफला के क्वाथ, दूध तथा घी के साथ पाक करना चाहिये । इस रसायन के सेवन से शरीर की वृद्धि होती है, पित्त दूर होता है । कान्ति और बल की वृद्धि होती है तथा अधिक सेवन करने से भूख और प्यास को कम करता है । (यहां पर अभ्रक तथा लौहके मिलाने से जो मान होता है । उसे लोहे का मान मानकर लोहपाक विधि, जो पीछे कह आये हैं उसके अनुसार घृत, दुग्ध तथा क्वाथ की मात्रा समझनी चाहिये ॥ १०८-११० ॥

अभ्रकविधिः—

कृष्णाभ्रकमेकवपु-र्वज्राख्यञ्चैकपत्रकं कृत्वा ।
काष्ठमयोदूखलके चूर्णं मुशलेन कुर्वीत ॥ १११ ॥
भूयो दृशदि च पिष्टं वासः सूक्ष्मावकाशतलगलितम् ।
मण्डूकपर्णिकायां प्रचुररसे स्थापयेत् त्रिदिनम् ॥ ११२ ॥
उद्धृत्य तद्रसादथ पिष्याद्धेमन्तिकधान्यभक्तस्य ।
आम्लादात्यन्ताम्ल-स्वच्छजलेन प्रयत्नेन ॥ ११३ ॥
मण्डूकपर्णिकायाः पूर्वरसेनैव लोडनं कुर्यात् ।
स्थालीपाकं पुटनं चाद्यैरपि भृङ्गराजाद्यैः ॥ ११४ ॥
ताडादिपत्रमध्ये कृत्वा पिण्डं निधाय भस्त्राऽऽग्नौ ।
तावद्दहेन्न याव-न्नीलाऽग्निर्दृश्यते सुचिरम् ॥ ११५ ॥
निर्वापयेच्च दुग्धेन दुग्धं प्रक्षाल्य वारिणा तदनु ।
पिष्ट्वा घृष्ट्वा वस्त्रे चूर्णं निश्चन्द्रकं कुर्यात् ॥ ११६ ॥

काला अभ्रक जिसमें मेढक के वर्ण के समान हरा या पीला आदि रंग उपस्थित न होकर पूर्णतया काला हो, जिसका नाम 'वज्राभ्रक' है। उसे लकड़ी के ऊखली में रखकर मूसर से चूर्ण करना चाहिये। इसके बाद सिलपर पीसकर महीन कपड़े से छानना चाहिये। तत्पश्चात् मण्डूकपर्णी (ब्राह्मीभेद) के स्वरस में ३ दिन पर्यन्त डुबाये रखना चाहिये। फिर निकाल कर हेमन्त ऋतु में होने वाले चावलों के भात से सिद्ध की हुई स्वच्छ काँजी में भलीभाँति धोना चाहिये। फिर मण्डूकपर्णी के स्वरस में घोटकर मोदक बनालें। पुनः पूर्वोक्त भृङ्गराजादि औषधियों के क्वाथ द्वारा स्थालीपाक तथा पुटपाक करें। इस प्रकार सिद्ध अभ्रक का गोला बनाकर ताड़ के पत्तों में लपेटकर भट्ठी में रखकर तब तक धौंकना चाहिये जब तक कि अग्नि से नीली ज्वाला न निकले। इसके बाद (१)अभ्रक को गाय के दूध में बुझाना चाहिये। फिर जल से धोकर सूक्ष्म पीसकर कपड़े से छान लें। इस प्रकार अभ्रक निश्चन्द्र हो जाता है ॥ १११-११६ ॥

लौहभक्षणविधिः—

नानाविधरुक्शान्त्यै पुष्ट्यै कान्त्यै शिवं समभ्यर्च्य ।
सुविशुद्धेऽहनि पुण्ये तदमृतमादाय लौहाख्यम् ॥ ११७ ॥

विविध रोगों को नष्ट करने के लिये तथा शरीर की शक्ति और कान्ति बढ़ाने के लिये शुभ दिन में भगवान् शिव की पूजा करके अमृत के समान पूर्वोक्त लौह को लेकर सेवन करना चाहिये ॥ ११७ ॥

लौहस्य मात्रा—

दशकृष्णलपरिमाणं शक्तिवयोभेदमाकलय्य पुनः ।
इयदधिकं तदधिकतर-मियदेव न मातृमोदकवत् ॥ ११८ ॥

इसकी मात्रा सामान्यतः १० रत्ती है पर बल तथा अवस्था को देखकर इसमें घटाबढ़ी कर सकते हैं। जैसे माता लड्डुओं को बड़े बच्चों को अधिक और छोटा

---

(१) अभ्रकके शोधन तथा मारण की निम्न विधि अधिक प्रयुक्त होती है। शोधन—वज्राभ्रक को लोहे की कलछी में लेकर आग पर रख दें। जब वह रक्ततप्त हो जाय तो बेर के काढ़े में बुझायें। बेर के काढ़े को हण्डी में रखना चाहिये। और अभ्रक डालते ही उसका मुख किसी सकोरे से ढक देना चाहिये। अन्यथा अभ्रक केछोटे २ टुकड़े उड़जाते हैं। इस प्रकार ७ बार अभ्रक को रक्ततप्त (तपाकर लाल) करके बेर के काढ़े में बुझाने से अभ्रक शुद्ध होता है।

इस प्रकार प्राप्त अभ्रक को बड़ी रकाबी में रखकर पानी के साथ खूब मसल २ कर धोवे। इसके बाद इसको लोहे के खरल में कसौंदी के काढ़े के साथ घोटे तथा टिकिया बनाकर धूप में सुखालें। इसको संपुट में रखकर 'गजपुट' में जंगली कण्डों के बीच में रख कर पुट देवें। इस प्रकार ३० पुट में ही अभ्रक निश्चन्द्रभस्म होता है।

उम्र वाले तथा दुर्बल बच्चों को कम देती है। उसी प्रकार यहां भी न्यूनाधिक मात्रा विचार कर निश्चित करनी चाहिये ॥ ११८ ॥

लौहस्य मर्दनम्—

सममसृणामलपात्रे लोहे लौहेन मर्दयेद् गाढम् ।
दत्त्वा मध्वनुरूपं तदनु घृतं योजयेदधिकम् ॥ ११९ ॥
बन्धं गृह्णाति यथा मध्वपृथक्त्वेन पङ्कमविशिषन् ।
इदमिह दृष्टोपकरण-मेतद् दृष्टन्तु मन्त्रेण ॥ १२० ॥

इस मात्रा को लोहे के छोटे खरल में लोहे के ही मूसल से खूब रगड़ना चाहिये। इसके बाद लोह के बराबर मधु लेकर पुनः घोंटना चाहिये। जिससे लौह मधु में पूर्णतया मिल जाय। यहां तक दृष्ट उपकरण का वर्णन किया गया। इसके पश्चात् अदृष्ट उपकरण कहते हैं ॥ ११९-१२० ॥

मन्त्रप्रयोगः—

स्वाहाऽन्तेन विमर्दो भवति फडन्तेन लोहबलरक्षा ।
सनमस्कारेण बलि-र्भक्षणमयसो हुमन्तेन ॥ १२१ ॥

'ॐ अमृतोद्भवाय स्वाहा'। 'ॐ अमृते हुं फट्'। 'ॐ नमश्चण्डवज्रपाणये महायक्षसेनाऽधिपतये सुरगुरुविद्यामहाबलाय स्वाहा'। 'ॐ अमृते हुम्' ॥ १२१ ॥

लोहे को घोंटते समय 'ॐ अमृतोद्भवाय स्वाहा' इस मन्त्र का पाठ करना चाहिये। 'ॐ अमृते हुं फट्' इस मन्त्र से औषधि के बल की रक्षा होती है तथा 'ॐ नमश्चण्डवज्रपाणये महायक्षसेनाऽधिपतये सुरगुरुविद्यामहाबलाय स्वाहा' इस मन्त्र से बलि देनी चाहिये। और लौह खाते समय 'ॐ अमृते हुम्' इस मन्त्रका पाठ करना चाहिये ॥ १२१ ॥

अनुपानव्यवस्था—

जग्ध्वा तदमृतसारं नीरं वा क्षीरमवानुपिबेत् ।
कान्तक्रामकममलं संचर्व्य रसं पिबेद्दिने न तु तत् ॥
आचम्य च ताम्बूलं लाभे घनसारसहितमुपयोज्यम् ॥ १२२ ॥

रसायन का सेवन करके तुरन्त दूध वा जल (औषध का पचगुना वा 'योगरत्नाकर' कारके मत से ६४ गुना) पीना चाहिये। इसके बाद नागरमोथा को चाभ कर रस पी लेना चाहिये तथा शेष कल्क भाग फेंक देना चाहिये। इसके बाद आचमन करके कर्पूरके साथ पान का सेवन करना चाहिये ॥ १२२ ॥

लौहसेवने नियमाः—

नात्युपविष्टो नाप्यति-भाषी नातिस्थितश्चितिष्ठेत् ।
अत्यन्तवातशीता-तपयानस्नानवेगरोधादीन् ॥ १२३ ॥

जह्याच्च दिवानिद्रा-महितञ्चाकालभुक्तञ्च ।
वातकृतः पित्तकृतः सर्वान् कटूनम्लतिक्तकषायान् ॥ १२४ ॥
तत्क्षणविनाशहेतून् मैथुनकोपश्रमान् दूरे ॥ १२५ ॥

लौहसेवन करने वाला पुरुष—अत्यन्त बैठना, अत्यन्त बोलना तथा एक आसन पर खड़े रहना, वायु, शीत तथा धूप का अधिक मात्रा में सेवन, रास्ता चलना, स्नान, वेग रोकना, दिन में सोना तथा असमय में भोजन करना छोड़ दे। वात और पित्त को बढ़ाने वाले कटु, तिक्त व कसैले पदार्थों का सेवन तथा तत्क्षण विनाश करने वाले मैथुन, परिश्रम और कोप को त्याग दे ॥ १२३-१२५ ॥

भोजनकालः—

अशितं तदयः पश्चात् पततु न वा पाटवं छट्टु प्रथताम् ।
आर्त्तिर्भवतु न वाऽऽन्त्रे कूजति भोक्तव्यमव्याजम् ॥ १२६ ॥

प्रातः लौह का सेवन करने पर लौह गुदा से निकलने लगा या नहीं। स्फूर्त्ति मालूम हो रही है या नहीं तथा भूख की पीड़ा हो रही है या नहीं, इनका विचार न करते हुये जब वात के कारण आन्त्रकूज (आंतों में गुड़गुड़ाहट) मालूम होने लगें तो निःशङ्क हो भोजन करना चाहिये ॥ १२६ ॥

भोजनविधिः—

प्रथमं पीत्वा दुग्धं शाल्यन्नं विशदसिद्धमक्लिन्नम् ।
घृतसंप्लुतमश्नीया-न्मांसैर्वैहङ्गमैः प्रायः ॥ १२७ ॥
उत्तममूषरभूचर-विष्किरमांसं तथाऽऽजमैणादिकम् ।
अन्यदपि जलचराणाम् पृथुरोमापेक्षया ज्यायः ॥ १२८ ॥

प्रथम दुग्धपान करना चाहिये। फिर शालि चावल के सूखे तथा खिले हुये भात को घृत तथा पक्षियों के मांसरस (शुरुवा) के साथ खाना चाहिये। ऊषर (रेहयुक्त) भूमि में चरने वाले या विष्किर (बखेर कर खाने वाले मुर्गी आदि), बकरा, हिरण तथा जल के प्राणियों के उत्तम मांस का सेवन करना चाहिये। मछलियों की अपेक्षा अन्य जलचर (हंसादिक) प्राणियों का मांस उत्तम है॥१२७-१२८॥

मत्स्यप्रयोगः—

मांसालाभे मत्स्या अदोषलाः स्थूलसद्गुणा ग्राह्याः ।
मद्गुररोहितशकला दग्धास्तु पललान्मनाक्न्यूनाः ॥ १२९ ॥

मांस के न मिलने पर जो दोष को प्रकुपित न करें स्थूल हों तथा अन्य उत्तम गुणों से युक्त हों ऐसी मछलियों को लेकर सेवन करना चाहिये। भुनी हुई मद्गुर तथा रोहू मछलियां मांस से कुछ ही कम गुणवाली होती हैं ॥ १२९ ॥

फलादिप्रयोगः—

शृङ्गाटकफलकशेरु-कदलीफलतालनारिकेलादि ।
अन्यदपि यच्च वृष्यं मधुरं पनसादिकं ज्यायः ॥ १३० ॥
केबुकताडकरीरान् वार्ताकुपटोलफलदलसमठान् ।
मुद्गमसुरेक्षुरसान् शंसन्ति निरामिषेष्वेतान् ॥ १३१ ॥

सिंघाड़ा, कसेरू, केला, ताड़ का फल, नारियल तथा अन्य मधुर, वाजीकर, कटहल आदि फलों का सेवन करना चाहिये। केरमुये का शाक, ताड़ के नवीन अङ्कुर, बैंगन, परवल के फल, समठ शाक, परवल की पत्ती का शाक, मूंग, मसूर का जूस तथा ईख का रस इनको लोह-सेवन करते समय उन आदमियों को खिलाना चाहिये जो कि मांसाहारी नहीं हैं ॥ १३०-१३१ ॥

शाकप्रयोगे नियमः—

शाकं प्रहेयमखिलं स्तोकं रुचये तु वास्तुकं दद्यात् ।
विहितनिषिद्धादन्य-न्मध्यमकोटिस्थितं विद्यात् ॥ १३२ ॥

इनके अलावे अन्य किसी प्रकार के शाक नहीं खाना चाहिये। बथुवा-रुचिके लिये थोड़ी मात्रा में सेवन कर सकते हैं। जिन का खाने के लिये विधान किया गया है तथा जिन का निषेध किया गया है। उन शाकों को छोड़ कर शेष शाक मध्यम श्रेणी में समझना चाहिये। उन्हें न अधिक, न अल्प मात्रा में किन्तु मध्यम मात्रा में खाना चाहिये, यह अभिप्राय है ॥ १३२ ॥

विबन्धे लौहानुपानम्—

तप्तदुग्धानुपानं प्रायः सारयति बद्धकोष्ठस्य ।
अनुपीतमम्बु यद्वा कोमलफलनारिकेलस्य ॥ १३३ ॥
यस्य न सरति तथा स यवक्षारं जलं पिबेत् कोष्णम् ।
कोष्णं त्रिफलाक्काथं क्षारसनाथं ततोऽप्यधिकम् ॥ १३४ ॥

लोह सेवन करने से यदि कोष्ठबद्धता उत्पन्न हो जाय तो उष्ण दुग्ध के अनुपान से लोह का सेवन करना चाहिये। वा नारियल के कच्चे फल के भीतर का जल पिलाना चाहिए। इससे दस्त हो जाता है। इस प्रकार चिकित्सा करने पर भी जिसे दस्त न हो तो उष्ण जल में ४ रत्ती जवाखार मिलाकर पिलाना चाहिये। अथवा उष्ण त्रिफला क्वाथ में ४ रत्ती जवाखार मिलाकर पिलाना चाहिये। यह पूर्व की अपेक्षा अधिक लाभ करता है ॥ १३३-१३४ ॥

लौहस्य मात्राविचारः—

त्रीणि दिनानि समं स्या-द्वह्नि चतुर्थे तु वर्द्धयेत् क्रमतः ।
यावच्चाष्टकमाषं न वर्द्धयेत् पुनरितोऽप्यधिकम् ॥ १३५ ॥

प्रथम ३ दिन तक लौह की सम मात्रा (२ रत्ती प्रतिदिन) देना चाहिए। तथा ४थे दिन से क्रम से बढ़ाकर ८ माशे (आज कल ६ माशे के बराबर) तक बढ़ाना चाहिये। इससे अधिक नहीं ॥ १३६ ॥

आदौ रक्तिद्वितयं द्वितीयवृद्धौ तु रक्तिकात्रितयम्।
रक्तिपञ्चकं पञ्चक-मत ऊर्ध्वं वर्द्धयेन्नियतम् ॥ १३६ ॥
वात्सरिककल्पपक्षे दिनानि यावन्ति वर्द्धनं प्रथमम्।
तावन्ति वर्षशेषे तन्निखिलं ह्रासयेत् तदनु ॥ १३७ ॥
तेष्वष्टमाषकेषु प्रातर्माषकत्रितयमश्नीयात्।
सायञ्च तावदह्नो मध्ये माषद्वयं शेषम् ॥ १३८ ॥

सर्व प्रथम लोह की २ रत्ती की मात्रा देनी चाहिये। यह क्रम प्रथम ३ दिन तक चलता रहे। पुनः ४थे से ६ ठे दिन तक २ रत्ती बढ़ाना चाहिये अर्थात् ४थे पांचवें तथा छठे दिनों में ४-४ रत्ती लोह का सेवन करना चाहिये। द्वितीय वृद्धिमें ३ रत्ती की मात्रा बढ़ाकर प्रयोग करना चाहिये अर्थात् ७ वें ८ वें तथा ९ वें दिनों में (४+३) =७ रत्ती की मात्रा में लोह का सेवन करना चाहिये। इसके बाद की वृद्धि में ५-५ रत्ती की मात्रा तीन २ दिन के पश्चात् बढ़ानी चाहिये। अर्थात् १० वें ११ वें तथा १२ वें दिन में (७+५) =१२ रत्ती की मात्रा सेवन करना चाहिये। इसके बाद १२ वें १३ वें तथा १४ वें दिन में (१२+५)= १७ रत्ती की मात्रा सेवन करना चाहिये। इस प्रकार ८ माशा (८×६)=४८ रत्ती आधुनिक ६ माशा) तक बढ़ाया गया है। उसी भांति क्रमतः कम करना चाहिये। इस ८ माशे में से प्रातः ३ माशे (१८ रत्ती) इतना ही सायंकाल तथा बचे हुये २ माशा को मध्याह्न में सेवन करना चाहिये। आजकल लोह की मात्रा २ रत्ती पर्याप्त है, इससे अधिक देना हानिप्रद है ॥ १३६-१३८ ॥

अमृतसारलौहस्य गुणाः—

एवं तदमृतमश्नन् कान्तिं लभते चिरस्थिरं देहम्।
सप्ताहत्रयमात्रात् सर्वरुजो हन्ति किं बहुना ॥ १३९ ॥

इस लौहामृत का सेवन करने से कान्ति प्राप्त होती है, शरीर स्थिर (दृढ़) होता है। केवल ३ सप्ताह मात्र के सेवन करने से संपूर्ण व्याधियां नष्ट होती हैं ॥ १३९ ॥

अमृतसार लौहस्योपसंहारः—

आर्याभिरिह नवत्या सप्तविधीनां यथावदाख्यातम्।
अमितविपर्ययसंशय-शून्यमनुष्ठानमुन्नीतम् ॥ १४० ॥
मुनिरचितशास्त्रपारं गत्वा सारं ततः समुद्धृत्य।

निबबन्ध बान्धवाना-मुपकृतये कोऽपि षट्कर्मा ॥ १४१ ॥

इन उपर्युक्त ९० आर्या छन्दों में लौह रसायन की १-साध्यसाधन-परिमाण विधि, २-स्थालीपाकविधि, ३-पुटविधि, ४-प्रधानपाकविधि, ५-निष्पत्तिपाकविधि, ६-सम्रविधि, ७-भक्षणविधि, ये सात विधियां बताई गई। इससे लौहनिर्माण में कुछ भी भ्रम नहीं उत्पन्न हो सकता। मुनिराज 'नागार्जुन' के लौहशास्त्र का पूर्ण अध्ययन कर किसी षट्कर्मा वैद्य ने वैद्यबन्धुओं के उपकारार्थ लौहरसायन पर यह निबन्ध लिखा है ॥ १४०-१४१ ॥

इत्यमृतसारलौहविधिः समाप्तः ॥

सुरेन्द्रमोदकः (क्लोमरोगे) भैषज्यरत्नावल्याम्—

लवङ्गातिविषाश्यामाः पद्ममूलं शतावरी ।
दीप्या च पिप्पली शृङ्गी द्राक्षा पथ्या मधूरिका ॥ १४२ ॥
संचूर्ण्य क्षौद्रेणामर्द्य मोदकान् परिकल्प्य च ।
वह्नेर्बलं च संवीक्ष्य चरेत् क्लोमगदातुरः ॥ १४३ ॥
मोदकोऽयं सुरेन्द्राख्यः पुष्टिकृद्बलवर्द्धनः ।
वह्निसन्दीपनो हृद्यो रसायनवरः स्मृतः ॥ १४४ ॥

लौंग, अतीस, श्यामालता, कमलकी जड़, शतावर, अजवाइन, पीपर, काकड़ासिङ्गी, मुनक्का, हरड़, सौंफ इनके समभाग में एकत्र मिश्रित चूर्ण को मधु से मर्दन करके मोदक बनाले। २ मासे से ४ मासे तक। अग्नि के बलको देखकर क्लोमरोगी इसका सेवन करे। यह 'सुरेन्द्रमोदक' पुष्टिको करने वाला, बलको बढ़ाने वाला, अग्नि संदीपक, हृदय के लिये हितकर (प्रिय) एवं श्रेष्ठ रसायन है ॥१४२-१४४॥

शशिशेखररसः (क्लोमरोगे) भैषज्यरत्नावल्याम्—

रसगन्धाभ्रहेमानि प्रवालं मौक्तिकं तथा ।
गृहकन्यारसैः सर्वं दिनं यावद्विमर्दयेत् ॥ १४५ ॥
मात्रामस्य प्रयुञ्जीत सुसिद्धस्य भिषग्वरः ।
रक्तिकैकमितां क्षौद्रैः क्वाथैः क्लोमहरैस्तथा ॥ १४६ ॥
सर्वान् क्लोमगदान् हन्ति ह्यशीतिं वातसंभवान् ।
पैत्तिकान् कफजांश्चापि हन्ति व्याधीनशेषतः ॥ १४७ ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म, स्वर्णभस्म, प्रवालभस्म, मुक्ताभस्म, इन्हें एकत्र यथाविधि समभाग में मिश्रित कर घीकार के रससे दिन भर घोंटे। इस तय्यार हुई औषधिको १ रत्ती की मात्रा में रोगी को सेवन करावें। अनुपान-मधु तथा क्लोमरोग नाशक क्वाथ। यह रस सम्पूर्ण क्लोमरोगों को नष्ट करता है। और ८० प्रकार

के वातरोग तथा संपूर्ण पैत्तिक एवं श्लैष्मिक रोगोंका नाशक भी है ॥१४२-१४७॥

सुरेन्द्राभ्रवटी (क्लोमरोगे) भैषज्यरत्नावल्याम्—

अभ्रं सहस्रशो दग्धं पारदं हिङ्गुलोद्भवम् ।
केशराजरसैः शुद्धं गन्धकं हीरकं तथा ॥ १४८ ॥
प्रवालं मौक्तिकं स्वर्णं रजतं ताप्यमेव च ।
कान्तलौहञ्च संमर्द्य विधिना वह्निवारिणा ॥ १४९ ॥
वट्यो गुञ्जाऽर्द्धसम्मिताः कुर्याच्छायाविशोषिताः ।
यथादोषानुपानैश्च प्राज्ञ एकां प्रयोजयेत् ॥ १५० ॥
क्लोमरोगविनाशाय वह्नेः सन्धुक्षणाय च ।
अम्लपित्तं यकृच्छोथं प्लीहां पाण्डुं जलोदरम् ॥ १५१ ॥
गुल्मरोगं प्रमेहञ्च दारुणं विषमज्वरम् ।
कुष्ठं सुदारुणं चैव निहन्ति नात्र संशयः ॥ १५२ ॥

सहस्रपुटी अभ्रकभस्म, हिङ्गुलोत्थ पारद, भांगरे के रस में शोधित गन्धक, हीरकभस्म, प्रवालभस्म, मुक्ताभस्म, स्वर्णभस्म, रजतभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, कान्तलौहभस्म, इन्हें विधिपूर्वक मिश्रित कर चित्रकके क्वाथसे मर्दन कर आधी २ रत्ती की गोलियां बनावें । और छाया में सुखालें । बुद्धिमान वैद्य को चाहिये कि दोषके अनुसार अनुपान के साथ एक गोली का प्रयोग करावें । इसके सेवन से क्लोमरोग नष्ट होता है और अग्नि प्रदीप्त होती है । एवम् अम्लपित्त, यकृच्छोथ, तिल्ली, पाण्डुरोग, जलोदर, गुल्म, प्रमेह, दारुण विषमज्वर और कुष्ठ प्रभृति रोगों को यह वटी निःसन्देह नष्ट करती है ॥ १४८-१५२ ॥

बृहद् दाडिमाद्यं घृतम् (ओजोमेह) भैषज्यरत्नावल्यां प्रमेहाधिकारोक्तम्—

चतुःषष्टिपलं पक्व-दाडिमस्य सुकुट्टितम् ।
चतुर्द्रोणं जलं दत्त्वा चतुर्भागावशेषितम् ॥ १५३ ॥
क्वाथेन वस्त्रपूतेन घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
दाडिमं चविकाऽजाजी क्रिमिघ्नं रजनीद्वयम् ॥ १५४ ॥
द्राक्षाखर्जूरयुञ्जात-मुत्पलं गजपिप्पली ।
अजमोदा महाद्रेका काकोली नागरं वचा ॥ १५५ ॥
देवाह्वा चविका कुष्ठं काश्मरी मधुयष्टिका ।
श्यामेन्द्रवारुणी मूर्वा शुभा शृङ्गी घनीयकम् ॥ १५६ ॥
कुलत्थं च महामेदा निम्बञ्च बृहतीद्वयम् ।

दण्डोत्पलं वरा वासा सप्तला सिन्धुवारकम् ॥ १५७ ॥
कल्कश्चैषां युक्तियोगाद् ग्राह्यो हि परिभाषया ।
प्रमेहं वातिकं हन्ति पैत्तिकं श्लैष्मिकं तथा ॥ १५८ ॥
हृच्छूलं बस्तिजं शूलं मूत्राघातांस्त्रयोदश ।
हिक्कां श्वासं च कासं च यक्ष्माणं सर्वरूपिणम् ॥ १५९ ॥
स्वरक्षयमुरोरोगं रक्तपित्तमरोचकम् ।
ये च प्रमेहजा रोगा-स्तान् सर्वान् नाशयत्यपि ॥ १६० ॥
दाडिमाद्यमिदं सर्व-प्रमेहाणां निषूदनम् ।
अश्विभ्यां निर्मितं ह्येतत् प्रमेहकरिकेशरी ॥ १६१ ॥

पके हुये अनार के दानों का जवकुट चूर्ण ६४ पल (६ सेर ६ छटाक २ तो०) में क्वाथार्थं जल २ द्रोण (१ मन ११ सेर ३ छटाक १ तो०) डाल कर पकावें, चतुर्थांश आधा द्रोण (१२ सेर १२ छटाक ४ तोला)। कल्कद्रव्य-अनारबीज, चव्य, जीरा, वायबिडङ्ग, हल्दी, दारुहल्दी, द्राक्षा, पिण्डखजूर, मुञ्ज, नीलोत्पल, गजपिप्पली, अजमोदा, बकायन, काकोली, सोंठ, वच, देवदारु, चव्य, कूठ, गम्भारीकी छाल, मुलहठी, अनन्तमूल, इन्द्रायण की जड़, मूर्वामूल, वंशलोचन, काकड़ासिङ्गी, धनिया, कुलथी, महामेदा, नीम की छाल, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, दण्डोत्पल, त्रिफला, अडूसा की छाल, सातला (स्नुहीभेद), सम्भालू मिलित आधा प्रस्थ (६४ तोले), जल ८ प्रस्थ (१२ सेर १२ छटाक ४ तोले), इस घृतका यथाविधि पाक करें। इस घृत के पान से वातिक, पैत्तिक, कफज प्रमेह, हृच्छूल, बस्तिशूल, मूत्राघात, हिक्का, श्वास, कास, राजयक्ष्मा, स्वरभेद, उरोरोग, रक्तपित्त, अरुचि तथा प्रमेह से उत्पन्न होने वाले पिडका आदि रोग नष्ट होते हैं। यह 'दाडिमाद्य घृत' संपूर्ण प्रमेहों को नष्ट करता है ॥ १५३-१६१ ॥

चन्द्रप्रभावटी (ओजोमेहे) भैषज्यरत्नावल्यां प्रमेहाधिकारोक्ता—

चन्द्रप्रभा वचा मुस्ता-भूनिम्बसुरदारवः ।
हरिद्राऽतिविषा दार्वी पिप्पलीमूलचित्रकम् ॥ १६२ ॥
त्रिवृद्दन्ती पत्रकञ्च त्वगेला वंशलोचना ।
प्रत्येकं कर्षमात्राणि कुर्यादेतानि बुद्धिमान् ॥ १६३ ॥
धान्यकं त्रिफला चव्यं विडङ्गं गजपिप्पली ।
सुवर्णमाक्षिकं व्योषं द्वौ क्षारौ लवणत्रयम् ॥ १६४ ॥
एतानि टङ्कमात्राणि संगृह्णीयात् पृथक् पृथक् ।

द्विकर्षं हतलौहं स्या-च्चतुष्कर्षा सिता भवेत् ॥ १६५ ॥
शिलाजत्वष्टकर्षं स्या-दष्टौ कर्षाश्च गुग्गुलोः ।
विधिना योजितैरेतैः कर्त्तव्या गुटिका शुभा ॥ १६६ ॥
चन्द्रप्रभेति विख्याता सर्वरोगप्रणाशिनी ।
निहन्ति विंशतिं मेहान् कृच्छ्रमष्टविधं तथा ॥ १६७ ॥
चतस्रश्चाश्मरीस्तद्व-न्मूत्राघातांस्त्रयोदश ।
अण्डवृद्धिं पाण्डुरोगं कामलां च हलीमकम् ॥ १६८ ॥
कासं श्वासं तथा कुष्ठ-मग्निमान्द्यमरोचकम् ।
वातपित्तकफव्याधीन् बल्या वृष्या रसायनी ॥ १६९ ॥
समाराध्य शिवं यस्मात् प्रयत्नाद् गुडिकामिमाम् ।
प्राप्तवाँश्चन्द्रमा यस्मा-दियं चन्द्रप्रभा स्मृता ॥ १७० ॥

कर्पूर अथवा बावची, वच, मोथा, चिरायता, देवदारु, हल्दी, अतीस, दारुहल्दी, पिपरामूल, चित्रक, निसोथ, दन्तीमूल, तेजपात, दारचीनी, छोटी इलायची, वंशलोचन प्रत्येक २ तोले। धनियां, त्रिफला, चव्य, वायविडङ्ग, गजपीपल, स्वर्णमाक्षिक भस्म, त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मिर्च), जवाखार, सज्जीखार, सेंधा नमक, काला नमक, विड् निमक प्रत्येक ४ माशे। लोहभस्म ४ तोला, खांड ८ तोला, शिलाजीत १६ तोला, शुद्ध गुग्गुलु १६ तोला इन्हें एकत्र मिश्रित कर यथाविधि वटी बनावें। मात्रा–१० रत्ती। इसके सेवन से प्रमेह, ८ मूत्रकृच्छ्र, ४ पथरी, १३ मूत्राघात, अण्डवृद्धि, पाण्डुरोग, कामला, हलीमक, कास, श्वास, कुष्ठ, मन्दाग्नि, अरुचि तथा अन्य वातज, पित्तज और कफज व्याधियां नष्ट होती हैं। यह बल्य, वृष्य तथा रसायन-गुण युक्त है। चूंकि शिवजी की आराधना करके बड़े प्रयत्न से चन्द्रमाने इसे प्राप्त किया था अत एव इसका नाम चन्द्रप्रभा हुवा ॥ १६२–१७० ॥

वङ्गेश्वरः (ओजोमेह) भैषज्यरत्नावल्यां प्रमेहाधिकारोक्तः—

रसस्य भस्मना तुल्यं वङ्गभस्म प्रयोजयेत् ।
रक्तिकैकं निहन्त्याशु मेहान् क्षौद्रसमन्वितम् ॥ १७१ ॥

रससिन्दूर तथा वङ्गभस्म को समभाग में मिश्रित कर एक रत्ती की मात्रा में मधु के साथ मिश्रित कर सेवन करावें। इसके सेवन से प्रमेह रोग नष्ट होता है। ॥ १७१ ॥

अपरो बृहद्वङ्गेश्वरस्तत्रैवोक्तः पूर्ववत्—

सूतं गन्धं मृतं लौहं मृतमभ्रं समांशिकम् ।
हेम वङ्गं च मुक्ता च ताप्यमेवं समं मतम् ॥ १७२ ॥
सर्वेषां चूर्णितं कृत्वा कन्यारसविमर्दितम् ।

गुञ्जाद्वयप्रमाणेन वटिकां कुरु यत्नतः ॥ १७३ ॥
बृहद्वङ्गेश्वरो ह्येष रक्तमूत्रे प्रशस्यते ।
श्वेतमूत्रं बृहन्मूत्रं कृच्छ्रमूत्रं तथैव च ॥ १७४ ॥
सर्वप्रकारमेहांस्तु नाशयेदविकल्पतः ।
अग्निवृद्धिं वयोवृद्धिं कान्तिवृद्धिं करोति च ॥ १७५ ॥
क्षयरोगं निहन्त्याशु कासं पञ्चविधं तथा ।
कुष्ठमष्टादशविधं पाण्डुरोगं हलीमकम् ॥ १७६ ॥
शूलं श्वासं ज्वरं हिक्कां मन्दाग्नित्वमरोचकम् ।
क्रमेण शीलितो हन्ति वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा ॥ १७७ ॥

शुद्ध पारा, शुद्ध गन्धक, लौहभस्म, अभ्रकभस्म, स्वर्णभस्म, वङ्गभस्म, मुक्ता भस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म इन्हें सम परिमाण में मिश्रित कर घीक्वार के रस में मर्दन करें और दो रत्ती की गोली बनावें। इसके सेवन से रक्तमूत्र, श्वेतमूत्र, बृहन्मूत्र (मूत्रातिसार), मूत्रकृच्छ्र, संपूर्ण प्रमेह, राजयक्ष्मा, ५ कास, १८ कुष्ठ, पाण्डु हलीमक, शूल, श्वास, ज्वर, हिक्का, मन्दाग्नि, अरुचि प्रभृति रोग नष्ट होकर जठराग्नि, आयु तथा कान्ति बढती है ॥ १७१-१७७ ॥

वसन्तकुसुमाकरो रसः (ओजोमेह)
भैषज्यरत्नावल्यां प्रमेहाधिकारोक्तः—

पृथग् द्वौ हाटकं चन्द्र-त्रयो-वङ्गाहिकान्तकाः ।
चतुर्भागं शुद्धमभ्रं प्रवालं मौक्तिकन्तथा ॥ १७८ ॥
भावना गव्यदुग्धेन भावनेक्षुरसेन च ।
वासालाक्षारसोदीच्य-रम्भाकन्दप्रसूनकैः ॥ १७९ ॥
शतपत्ररसेनैव मालत्याः कुसुमेन च ।
पश्चान्मृगमदैर्भाव्यं सुसिद्धो रसराड् भवेत् ॥ १८० ॥
कुसुमाकरविख्यातो वसन्तपदपूर्वकः ।
गुञ्जाद्वयेन संसेव्यः सिताऽऽज्यमधुसंयुतः ॥ १८१ ॥
वलीपलितहन्मेध्यः कामदः सुखदः सदा ।
मेहघ्नः पुष्टिदः श्रेष्ठः पुत्रप्रसवकारणम् ॥ १८२ ॥
क्षयकासघ्न उन्माद-श्वासरक्तविषापहः ।
सिताचन्दनसंयोगा-दम्लपित्तादिरोगजित् ॥ १८३ ॥

स्वर्णभस्म २ भाग, चांदी भस्म २ भाग, वङ्गभस्म ३ भाग, सीसकभस्म

३ भाग, कान्तलौहभस्म ३ भाग, अभ्रकभस्म ४ भाग, मूंगाभस्म ४ भाग, मुक्ताभस्म ४ भाग। इन्हें एकत्र मिश्रित कर गोदुग्ध, इक्षुरस (गन्ने का रस), अडूसे का रस, लाक्षारस, गन्धवाला का क्वाथ, केले की जड़ का रस, केले के फूल का रस, श्वेत-कमल का रस तथा मालतीपुष्प का रस प्रत्येक से सात २ भावना देकर १ भाग कस्तूरी मिलाकर २ रत्ती की वटी बनावें। अनुपान-खांड, घी तथा मधु। इसके सेवन से उन्माद श्वास तथा रक्त, विष प्रभृति नष्ट होते हैं। यह रस बुद्धिवर्द्धक, कामद, पुष्टिकर तथा आरोग्यकर है । इसका निरन्तर सेवन वीर्य को पुष्ट करके पुत्र जन्म का कारण होता है। यह प्रमेह विशेषतः मधुमेह में सहस्रशः दृष्टफल है। खांड, तथा चन्दन के योग से यह अम्ल प्रभृति रोगों को नष्ट करता है ॥ १७८–१८३ ॥

देवदार्वरिष्टः (ओजोमेहे) भैषज्यरत्नावल्यां प्रमेहाधिकारोक्तः—

तुलाऽर्द्धं देवदारु स्याद् वासायाः पञ्चविंशतिः ।
मञ्जिष्ठेन्द्रयवा दन्ती तगरं रजनीद्वयम् ॥ १८४ ॥
रास्ना कृमिघ्नं मुस्तञ्च शिरीषं खादिरार्जुनौ ।
भागान् दशपलान् दद्याद् यवान्या वत्सकस्य च ॥ १८५ ॥
चन्दनस्य गुडूच्याश्च रोहिण्याश्चित्रकस्य च ।
भागानष्टपलानेता-नष्टद्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥ १८६ ॥
द्रोणशेषे कषाये च पूते शीते प्रदापयेत् ।
धातक्याः षोडशपलं माक्षिकस्य तुलात्रयम् ॥ १८७ ॥
व्योषस्य द्विपलं दद्यात् त्रिजातकचतुष्पलम् ।
चतुष्पलं प्रियङ्गोश्च द्विपलं नागकेशरम् ॥ १८८ ॥
सर्वाण्येतानि सञ्चूर्ण्य घृतभाण्डे निधापयेत् ।
मासादूर्ध्वं पिबेदेनं प्रमेहं हन्ति दुस्तरम् ॥ १८९ ॥
वातरोगग्रहण्यर्शो-मूत्रकृच्छ्राणि नाशयेत् ।
देवदार्वादिकोऽरिष्टो दद्रुकुष्ठविनाशनः ॥ १९० ॥

देवदारु ६ सेर, अडूसा छाल २० पल (२ सेर), मंजीठ, इन्द्रजौ, दन्तीमूल, तगर, हल्दी, दारुहल्दी, रास्ना, वायविडङ्ग, मोथा, सिरस की छाल, खैरकी लकड़ी, अर्जुन की छाल, प्रत्येक १० पल (१ सेर)। अजवाइन, कुटजछाल, लालचन्दन, गिलोय, कटुकी, चीतामूल, प्रत्येक ८ पल (६४ तो०)। पाकार्थ जल १६ द्रोण (१० मन १ सेर १ छटाक २ तो०)। जब क्वाथ १ द्रोण (१ मन ११ सेर ३ छटाक १ तोला) अवशिष्ट रहजाय तब आंचपर से उतार लें और छान लें । जब ठण्डा हो जाय तब धायका फूल १६ पल (१ सेर १ छटाक १ तोला), मधु ३ तुला (३० सेर), त्रिकुट

दो पल (१६ तो०), त्रिजातक (दारचीनी, इलायची, तेजपात) प्रत्येक ४ पल (३२ तो०), प्रियङ्गु ४ पल (३२ तो०), नागकेशर २ पल, इनके चूर्ण का एकत्र प्रक्षेप देकर घृत से स्निग्ध मृत्पात्र में एक मास तक मुख बन्द कर एकान्त में रक्खे। मात्रा– १½ तोले से २½ तोले तक। इसके सेवन से प्रमेह, वातरोग, ग्रहणी, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, दद्रु तथा कुष्ठ प्रभृति रोग नष्ट होते हैं॥ १८४–१९० ॥

प्रमेहमिहिरतैलम् (ओजोमेह) भैषज्यरत्नावल्यां मेहाधिकारोक्तम्—

शतपुष्पा देवकाष्ठं मुस्तकञ्च निशाद्वयम्।
मूर्वा कुष्ठं वाजिगन्धा चन्दनद्वयरेणुकम्॥ १९१ ॥
कटुकी मधुकं रास्ना त्वगेला ब्रह्मयष्टिका।
चविका धान्यकं वत्सं पूतिकागुरुपत्रकम्॥ १९२ ॥
त्रिफला नलिका वाला बला चातिबला तथा।
मञ्जिष्ठा सरलं पद्मं लोध्रं मधुरिका वचा॥ १९३ ॥
अजाजी चोशीरजाती–वासा तगरपादुका।
एतेषां कार्षिकैर्भागै–स्तैलप्रस्थं विपाचयेत्॥ १९४ ॥
शतावर्या रसं तुल्यं लाक्षायाश्च चतुर्गुणम्।
मस्तु लाक्षारसैस्तुल्यं क्षीरं तुल्यं प्रदापयेत्॥ १९५ ॥
द्रवैरेतैः पचेत्तैलं गन्धं दत्त्वा यथाक्रमम्।
एतत्तैलवरं श्रेष्ठ–मभ्यङ्गान्मारुतापहम्॥ १९६ ॥
विषमाख्यान् ज्वरान् सर्वान् मेदोमज्जगतानपि।
वातिकं पैत्तिकं चैव श्लैष्मिकं सांनिपातिकम्॥ १९७ ॥
क्षीणेन्द्रिये तथा शस्तं ध्वजभङ्गे विशेषतः।
दद्यात्तैलं विशेषेण फलमस्य च कथ्यते॥ १९८ ॥
दाहं पित्तं पिपासां च छर्दिञ्च मुखशोषणम्।
प्रमेहान् विंशतिं चैव नाशयेद्विकल्पतः॥ १९९ ॥
प्रमेहमिहिरं नाम्ना रतिनाथेन भाषितम्॥ २०० ॥

तिलतैल २ प्रस्थ (३ सेर ३ छटाक १ तोला), शतावरका रस २ प्रस्थ (३ सेर ३ छटाक १ तोला), लाक्षारस ८ प्रस्थ (१२ सेर १२ छटाक ४ तोला), दूध २ प्रस्थ (३ सेर ३ छटाक १ तोला), मस्तु (दही का पानी) ८ प्रस्थ (१२ सेर १२ छटाक ४ तोला)। कल्क द्रव्य–सोये, देवदारु, मोथा, हल्दी, दारुहल्दी, मूर्वामूल, कूठ, असगन्ध, श्वेतचन्दन, लालचन्दन, रेणुका, कुटकी, मुलहठी, रास्ना, दारचीनी, छोटी

लायची, भारङ्गी, चव्य, धनिया, इन्द्रजौ, करञ्जबीज, अगर, तेजपत्र, त्रिफला, लिका, सुगन्धवाला, बला, अतिबला, मजीठ, सरलकाष्ठ, पद्माख, लोध, सौंफ, व, जीरा, खस, जायफल, अडूसेका छाल, तगर; प्रत्येक २ तोला। इस तैलका था-विधि पाक कर अन्त में गन्धद्रव्यों से पाक करें। इस तैलके अभ्यङ्ग से वात-याधि, विषम ज्वर, मंद और अज्ञागन ज्वर, वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा ांनिपातिक ज्वर नष्ट हो जाता है। यह तैल दाह, प्रवृद्ध पित्त, पिपासा, मन, मुखशोष तथा संपूर्ण प्रमेहों को शान्त करता है। यह क्षीणेन्द्रिय पुरुष के ये तथा विशेषतः ध्वजभङ्ग में हितकर है॥ १९१-२००॥

दन्तीघृतम् (मस्तिष्कवेपने) वङ्गसेनोक्तम्—

दन्तीमूलपलं दद्यात् त्रिवृन्मूलपलं तथा

त्रिफलाऽतिविषा-चित्र-विडङ्गार्द्धपलोन्मितम् ॥ २०१ ॥

स्नुहीक्षीरसमायुक्तं घृतस्य कुडवं पचेत् ।

बिन्दुमात्रोपयोगेन वेगः समुपजायते ॥

दुर्वारं श्लीपदं हन्ति वृक्षमिन्द्राशनिर्यथा ॥ २०२ ॥

दन्तीमूल १ पल, निशोथ १ पल तथा हरड, बहेड़ा, आमला, अतीस, चीतामूल ौर वायविडङ्ग प्रत्येक आधा २ पल लेकर सबको पानीके साथ पीसलें। फिर १ ड्व (८ पल) घी में यह कल्क और ४ कुडव सेहुण्ड का दूध मिलाकर पकावें। ब दूध जल जाय तो घृत को छानलें। इस घी में से केवल १ बिन्दु रोगीको पिलाने विरेचन होकर दुःसाध्य श्लीपदरोग भी नष्ट हो जाता है। (नोट-घी पकाते समय समें २ सेर पानी भी डालना चाहिये) ॥ २०१-२०२ ॥

मृतसञ्जीवनी सुरा (मस्तिष्कवेपने) नपुंसकामृतार्णवे नवमतरङ्गे—

नवं गुडं च संगृह्य शतमेकं पलं तथा ।

बर्बुरीत्वचं च संगृह्य बदरीत्वचमेव च ॥ २०३ ॥

प्रस्थं प्रस्थं प्रदातव्यं पूगं देयं यथोचितम् ।

दत्त्वा लोध्रं च कुडव-मार्द्रकं च पलद्वयम् ॥ २०४ ॥

तोयमष्टगुणं दत्त्वा गुड संघोलयेत् सुधीः ।

प्रथमे चार्द्रकं दद्याद् द्वितीये बर्बुरीत्वचम् ॥ २०५ ॥

तृतीये बदरीं दत्त्वा गोलयित्वा भिषग्वरः ।

मुखे शरावकं दत्त्वा यत्नात् कृत्वा च बन्धनम् ॥ २०६ ॥

मुखसम्बन्धनं कृत्वा स्थापयेद्दिनविंशतिम् ।

मृण्मये मोचिकायन्त्रे मयूराख्येऽपि यन्त्रके ॥ २०७ ॥

यथाविधिप्रकारेण मन्दमन्देन वह्निना ।
चुल्लीमध्ये निधातव्यं मृत्तिकादृढभाजने ॥ २०८ ॥
तदौषधं च तन्मध्ये समुद्धृत्य विनिक्षिपेत् ।
नले च युगलं दत्त्वा कुम्भौ च गजकुम्भवत् ॥ २०९ ॥
कुम्भमध्ये निधातव्यं पूगं च सैलवालुकम् ।
देवदारु लवङ्गं च पद्मकोशीरचन्दनम् ॥ २१० ॥
शतपुष्पा यवानीका मरिचं जीरकद्वयम् ।
शटी मांसी त्वगेला च सजातीफलमुस्तकम् ॥ २११ ॥
ग्रन्थिपर्णी तथा ण्ठी मेथी मेषी च चन्दनम् ।
एषां चार्द्धपलान् भागान् कुट्टयित्वा विनिक्षिपेत् ॥ २१२ ॥
यथाविधिप्रकारेण चालनं दापयेत्सुधीः ।
बुद्धिमान् सौजलं कृत्वा उद्धरेद्विधिवत्सुराम् ॥ २१३ ॥
एतन्मद्यं पिबेन्नित्यं यथाधातुवयःक्रमम् ।
आरोग्यजननं देह-दार्ढ्यकृद्बलवर्द्धनम् ॥ २१४ ॥
धात्वग्निस्मृतिकृद्वीर्य-शुक्रकृद्वातनाशनम् ।
बलपुष्टिकरं चैव कामदं दीपनं परम् ॥ २१५ ॥
दश स्त्री रमयेन्नित्य-मानन्दमुपजायते ।
रणे तेजोमयः सद्यो यथा भीमपराक्रमः ॥ २१६ ॥

नवीन गुड़ ६। सेर तथा बबूल की छाल, बेरीकी छाल और सुपारी १-१ सेर एवं लोध २० तोले और अदरक १० तोले लेकर कूटने योग्य चीजों को कूट लें। और अदरकको पत्थर पर पीसलें। तत्पश्चात् सबसे ८ गुने (१६ गुने) पानी में प्रथम गुड़ घोलें और उसमें क्रमतः अदरक, बबूलकी छाल, बेरीकी छाल तथा अन्य ओष-धियां मिलादें और सबको चिकने मटके में भरकर उसका मुख बन्द करके रखदें। पुनः २० दिन पश्चात् निकाल कर उसे मयूरयन्त्र अथवा मोचिकायन्त्र (भबके) में डाल कर मन्दाग्निपर अर्क खींचें। उस समय (अर्क खींचते समय) उसमें निम्न लिखित चीजों का चूर्ण भी डाल देना चाहिये—

सुपारी, एलवालुक (एलुआ), देवदारु, लौंग, पद्माख, खस, सफेद चन्दन, सोया, अजवायन, काली मिरच, सफेद और काला जीरा, कचूर, जटामांसी, दारचीनी, इलायची, जायफल, नागरमोथा, गठौना, सोंठ, मेथी, मेढासींगी और चन्दन का चूर्ण २॥-२॥ तोले।

इसे यथोचित मात्रानुसार सेवन करने से स्वास्थ्य की वृद्धि होती है । यह शरीर को दृढ करता है तथा बल, धातु, अग्नि, स्मृति और वीर्य को बढाता एवं वायु को नष्ट करता है । यह अत्यन्त वाजीकरण है ॥ २०३-२१६ ॥

सोमघृतम् (बाधकरोगाधिकारे समस्तयोनिरोगचिकित्सायाम्)

भैषज्यरत्नावल्यां स्त्रीरोगाधिकारोक्तम्—

सिद्धार्थकं वचा ब्राह्मी शङ्खपुष्पी पुनर्नवा ।
पयस्याऽऽमययष्ट्याह्वं कटुका च फलत्रयम् ॥ २१७ ॥
शारिवे रजनी पाठा-भृङ्गदारुसुवर्चलाः ।
मञ्जिष्ठा त्रिफला श्यामा वृषपुष्पं सगैरिकम् ॥ २१८ ॥
धीमान् पक्त्वा घृतप्रस्थं सम्यक् मन्त्राभिमन्त्रितम् ।
द्विमासगर्भिणी नारी षण्मासानुपयोजयेत् ॥ २१९ ॥
सर्वज्ञं जनयेत्पुत्रं सर्वामयविवर्जितम् ।
अस्य प्रयोगात् कुक्षिस्थः स्फुटवाग्व्याहरत्यपि ॥ २२० ॥
योनिदुष्टाश्च या नार्यो रेतोदुष्टाश्च ये नराः ।
स्त्रीणां पुंसां दोषहरं घृतमेतदनुत्तमम् ॥ २२१ ॥
बन्ध्याऽपि लभते पुत्रं शूरं पण्डितमानिनम् ।
जडगद्गदमूकत्वं पानादेवापकर्षति ॥ २२२ ॥
सप्तरात्रप्रयोगेण नरः श्रुतिधरो भवेत् ।
नाग्निर्दहति तद्वेश्म न वज्रमुपहन्ति च ॥ २२३ ॥
न तत्र म्रियते बालो यत्रास्ते सोमसंज्ञितम् ॥ २२४ ॥

कल्क—सफेद सरसों, वच, ब्राह्मी, शंखाहुली, पुनर्नवा, क्षीरकाकोली, कूठ, मुलेठी, कुटकी, फलत्रय, (मुनक्का, खम्भारी के फल, फालसा), दो प्रकार की शारिवा, हल्दी, पाठा, भंगरा, देवदारु, हुरहुर, मंजीठ, आंवरा, हरड, बहेरा, फूलप्रियङ्गु, अडूसा के फूल, गेरू इनका चूर्ण समान भाग मिलित २० तोले ।

२ सेर घी में उपर्युक्त कल्क और ८ सेर पानी मिलाकर पकावें, जब पानी जल जाय तो घी को छान लें । एवम् उसे गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित करके सुरक्षित रक्खें ।

इसे गर्भ के दो महीने पूरे होने के पश्चात् से गर्भिणी स्त्री को सेवन कराना चाहिये और ६ मास निरन्तर खिलाना चाहिये ।

इस प्रकार इसे सेवन कराने से बुद्धिमान्, रोगरहित और स्पष्ट उच्चारण करने वाला पुत्र उत्पन्न होता है ।

यह घृत योनिदोषों और वीर्यदोषों को नष्ट करने के लिये उत्तम औषध है ।

इसके सेवन से बन्ध्या स्त्री को भी शूर और विद्वान् पुत्र प्राप्त होता है। यह घृत जडता, गद्गदशब्द (हकलाना) और मूकता (गूंगे पन) को नष्ट करता है। इसे केवल ७ दिन (थोड़े दिनों ही) सेवन करने से मनुष्य श्रुतिधर हो जाता है। जिस घर में यह सोम घृत रहता है वह घर विघ्नों से सुरक्षित रहता है और उसमें बालकों की मृत्यु नहीं होती है। मात्रा—६ मासे से १ तोले तक।

यहां पर गायत्री मन्त्र के स्थान पर—ॐ नमो महाविनायकाय अमृतं रक्ष रक्ष मम फलसिद्धिं देहि देहि रुद्रवचनेन स्वाहा, इस मन्त्र से ७ बार अभिमन्त्रित करना चाहिये। इतना और समझना चाहिये ॥ २१७-२२४ ॥

कुमारकल्पद्रुमघृतम् (बाधकरोगाधिकारे सर्वयोनिरोगचिकित्सायाम्)
भैषज्यरत्नावल्यां स्त्रीरोगाधिकारोक्तम्—

पञ्चाशच्छागमांसस्य दशमूल्यास्तथैव च ।
जलमष्टगुणं दत्त्वा क्वाथेन मृदुनाऽग्निना ॥ २२५ ॥
चतुर्भागावशेषं च क्वाथं दद्यात् प्रयत्नतः ।
गव्यं प्रस्थद्वयं सर्पि-र्गृह्णीयात् कुशलो भिषक् ॥ २२६ ॥
क्षीरं घृतसमं दद्या-च्छतावर्या रसं तथा ।
ताम्रे वा मृण्मये पात्रे तदेकत्र पचेच्छनैः ॥ २२७ ॥
कुष्ठं शटी च मेदे द्वे जीवकर्षभकौ तथा ।
प्रियङ्गु त्रिफला दारु पत्रमेला शतावरी ॥ २२८ ॥
काश्मरी मधुकं क्षीर-काकोली मुस्तमुत्पलम् ।
जीवन्ती चन्दनं चैव काकोली शारिवायुगम् ॥ २२९ ॥
श्वेतवाट्यालजं मूलं मूलञ्च शरपुङ्खजम् ।
विदारीद्वयमञ्जिष्ठा-पर्णिनीद्वयमेव च ॥ २३० ॥
नागपुष्पं तथा दारु-हरिद्रा रेणुकं तथा ।
ज्योतिष्मतीभवं मूलं शङ्खिनी नीलिनी वचा ॥ २३१ ॥
अगुरु त्वग् लवङ्गं च कुङ्कुमं निक्षिपेत्ततः ।
एतेषां कार्षिकं कल्कं दत्त्वा शुभदिने सुधीः ॥ २३२ ॥
शुभनक्षत्रयोगे च संपूज्य गणनायकम् ।
शङ्करं च मृडानीं च नमस्कृत्यातिभक्तितः ॥ २३३ ॥
पाकं कुर्यात् प्रयत्नेन विजानन् मन्त्रपूर्वकम् ।
सिद्धशीते क्षिपेत्तत्र पारदं परिनिर्मलम् ॥ २३४ ॥

सुजीर्णं शोधितञ्चाभ्रं गन्धकं कार्षिकं न्यसेत् ।
ततः पुष्परसं तत्र प्रस्थार्द्धं च विनिक्षिपेत् ॥ २३५ ॥
काचसंपुटके वाऽन्य-पात्रे वा स्थापयेत् सुधीः ।
पराशरमुनिः प्रीति-करुणावारिधिर्मुदा ॥ २३६ ॥
वन्ध्याऽऽमयविनाशाय शिशुकल्पद्रुमं घृतम् ।
चकारास्य प्रसादेन जन्मवन्ध्या लभेत सुतम् ॥ २३७ ॥
स्वादेन कर्षमितं सर्पि-र्दत्त्वा विप्राय सादरम् ।
अनुपानं प्रकुर्वीत पयश्छागं विशेषतः ॥ २३८ ॥
गव्यं वाऽपि पिबेत् क्षीरं शीतं पल्युगं तथा ।
घृतस्यास्य सुसिद्धस्य गुणाञ्छृणु समाहितः ॥ २३९ ॥
अस्य प्रसादात् पण्डोऽपि वन्ध्यायां जनयेत् सुतान् ।
रजोदोषेण या दुष्टा शुक्रदोषेण याऽपि च ॥ २४० ॥
स्त्री भगास्थगदेनैव पीडिता या च सर्वदा ।
या च पुष्पं न विन्देत ऋतुना पीडिता च या ॥ २४१ ॥
भूत्वा भूत्वा च नश्यन्ति सुता यासां मुहुर्मुहुः ।
अनेकौषधयोगेन मन्त्रयोगेन वा पुनः ॥ २४२ ॥
अनेकव्रतयोगेन यासां पुत्रो न जायते ।
तासां कामसमाः पुत्रा जायन्ते चिरजीविनः ॥ २४३ ॥
एतद् घृतं गृहे यस्य न तस्य कुलिशाद्भयम् ।
न राक्षसैः पिशाचैश्च गृह्यते तस्य बालकः ॥
नोपसर्पति सर्पोऽपि दर्पात् तस्य गृहान्तरम् ॥ २४४ ॥

गव्यघृत ४ प्रस्थ (६ सेर ६ छ २ तो०), क्वाथार्थ-बकरे का मांस ५० पल (५ सेर), दशमूल (मिलित) ५ सेर, जल २ मन, शेष २० सेर, गोदुग्ध ४ प्रस्थ (६ सेर ६ छ० २ तोला) । शतावरी का स्वरस ४ प्रस्थ (६ सेर ६ छ० २ तो०) । कल्कार्थ—कूठ, कचूर, मेदा, महामेदा, जीवक, ऋषभक, प्रियङ्गु, त्रिफला, देवदारु, तेजपत्र, छोटी इलायची, शतावर, गम्भारीफल, मुलहठी, क्षीरकाकोली, मोथा, नीलोत्पल, जीवन्ती, लालचन्दन, काकोली, अनन्तमूल, श्यामालता, श्वेतबला की जड़, सरफोंका की जड़, विदारी, क्षीरविदारी, मजीठ, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, नागकेशर, दारुहल्दी, रेणुका, मालकंगुनी की जड़, शंखाहुल, नीलीवृक्ष, वच, अगर, दारचीनी, लौंग, केशर प्रत्येक दो २ तोला । शुभ दिन तथा शुभ नक्षत्र में गणेश की

पूजाकर शंकर और दुर्गा को नमस्कार कर पाकज्ञ वैद्य यथाविधि मृदु अग्नि से ताम्रपात्र अथवा मृत्पात्रमें घृत पाक करें। पश्चात् छानले। शीतल होने पर शुद्ध पारद २ तोले, गन्धक २ तोले (इन दोनों की कज्जली) तथा अभ्रकभस्म २ तोले और मधु १ प्रस्थ (सेर १ छ० ३ तो०) मिश्रित करें। इस घृत को काचपात्र में रक्खें। मात्रा-आधे तोले से २ तोले तक। अनुपान बकरी का दूध। इस घृत के पीने से बन्ध्या रोग नष्ट होता है। और जन्मवन्ध्या स्त्री भी पुत्रवती होती है। यदि अनुपानार्थ बकरी का दूध न हो तो २ पल (१६ तो०) शीतल गौ के दूध में घृत डालकर सेवन करा सकते हैं। इस घृत के सेवन से रजोदोष शुक्रदोष तथा योनिरोग से पीड़ित अथवा जिसे आर्त्तव न होता हो अथवा कष्टार्त्तव से पीड़ित हो या जिसकी सन्तान बार बार नष्ट हो जाती हो एवम् अनेक औषध, मन्त्र तथा अनेक व्रतों के प्रयोग से जिनके सन्तान न होती हो उनके कामदेव के समान सुन्दर तथा चिरञ्जीवी पुत्र उत्पन्न होते हैं। यह घृत जिनके घर में होता है उन्हें वज्रका डर नहीं और बालक राक्षस और पिशाचों से बचे रहते हैं तथा उस घर में सर्प भी नहीं रहते हैं ॥ २३६-२४४ ॥

फलकल्याणघृतम् (फलघृतम्) बाधकरोगाधिकारे सर्वयोनिरोगचिकित्सायाम्-भैषज्यरत्नावल्यां स्त्रीरोगाधिकारोक्तम् —

मञ्जिष्ठा मधुकं कुष्ठं त्रिफला शर्करा बला।
मेदा पयस्या काकोली-मूलं चैवाश्वगन्धजम् ॥ २४५ ॥
अजमोदा हरिद्रे द्वे हिङ्गु कटुकरोहिणी।
उत्पलं कुमुदं द्राक्षा काकोल्यौ चन्दनद्वयम् ॥ २४६ ॥
एतेषां कार्षिकैर्भागै-र्घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
शतावरीरसक्षीरं घृताद् देयं चतुर्गुणम् ॥ २४७ ॥
सर्पिरेतन्नरः पीत्वा नित्यं स्त्रीषु वृषायते।
पुत्रान् संजनयेन्नारी मेधाऽऽढ्यान् प्रियदर्शनान् ॥ २४८ ॥
या चैवास्थिरगर्भा स्याद् या च वा जनयेन्मृतम्।
अल्पायुषं वा जनयेद् या च कन्यां प्रसूयते ॥ २४९ ॥
योनिदोषे रजोदोषे परिस्रावे च शस्यते।
प्रजावर्द्धनमायुष्यं सर्वग्रहनिवारणम् ॥ २५० ॥
नाम्ना फलघृतं ह्येत-दश्विभ्यां परिकीर्त्तितम्।
अनुक्तं लक्ष्मणामूलं क्षिपन्त्यत्र चिकित्सकाः ॥ २५१ ॥

जीवद्वत्सैकवर्णाया घृतमत्र तु गृह्यते ।
आरण्यगोमयेनापि वह्निज्वाला प्रदीयते ॥ २५२ ॥

एक वर्णवाली तथा जीवद्वत्सा (जिसका बछड़ा जीता हो) गौ के दूध का घी ७ प्रस्थ (३ सेर ३ छ० १ तो०) । शतावर का रस ८ प्रस्थ (१२ सेर १२ छ० ४ तो)० कल्कार्थ-मंजीठ, मुलहठी, कूठ, त्रिफला, खांड, बला, मेदा, क्षीरविदारी, क्षीरकाकोली, असगन्ध की जड़, अजमोदा, हल्दी, दारुहल्दी, हींग, कुटकी, नीलोत्पल, कुमुद, द्राक्षा, काकोली, लालचन्दन, श्वेतचन्दन, प्रत्येक १ तोले । जङ्गली उपलों की अग्नि में यथाविधि घृतपाक करे । चिकित्सक इस घृत में कल्क द्रव्यों के साथ ही दो तोले लक्ष्मणामूल भी डालते हैं । इस घृत के सेवन से पुरुष बल-वीर्यादि सम्पन्न होता है और स्त्री बुद्धिमान एवं सुरूप पुत्रों को जनती है । जिस स्त्री के गर्भस्राव हो जाता हो अथवा गर्भस्थिति न होती हो अथवा यदि गर्भस्थिति हो भी जावे परन्तु मृत शिशु ही उत्पन्न हो अथवा यदि जीवित भी उत्पन्न हो परन्तु सन्तान अल्पायु हो अर्थात् कुछ दिनों बाद मर जाय तथा जिस स्त्री के कन्यायें ही पैदा हों उसे यह घृत सेवन करना चाहिये । यह घृत योनिदोष, रजोदोष तथा परिस्राव में प्रशस्त है । यह सन्तानोत्पादक, आयुष्कर तथा ग्रहदोष नाशक है । मात्रा-आधा तोला ॥ २४६-२५२ ॥

खञ्जनिकरोगाधिकारः ॥ २५ ॥

खञ्जनिकस्य निदानम्—

खञ्जन्य(१)दनसातत्या-दनिलो विकृतिं गतः ।
सक्थिन संजनयेद् व्याधिं-घोरं खञ्जनिकाभिधम् ॥ २५३ ॥
खञ्जनी यामुने देशे-बाहुल्येन प्रजायते ।
तस्याः समशनात्तत्र पीडचन्ते व्याधिना जनाः ॥ २५४ ॥
वातामयाधिकारे या प्रोक्ता कलायखञ्जता ।
सैवायमिति कैश्चिद्वा कैश्चिद्वाऽन्योऽभिमन्यते ॥ २५५ ॥

खञ्जनी नामक धान्य की दाल निरन्तर खाने वाले का वायु विकृत होकर उसके पैर में 'खञ्जनिक' नामक घोर व्याधि को उत्पन्न करता है । यमुना नदी के किनारे के देशों में 'खञ्जनी' नाम का द्विदलधान्य विशेष अधिकतर उत्पन्न होता है । इसके निरन्तर खाने से वहां के लोग उक्त (खञ्जनिक) व्याधिसे पीडित होते हैं । वात-

---

(१) खञ्जनीति द्विदलभेदस्तस्याः सन्ततभोजनात् खञ्जनिकाभिधो रोगो जायते ।

रोगाधिकार में जो 'कलायखञ्जता' नामक रोग कहा हुआ है वही यह 'खञ्जनिक' रोग है, ऐसा कोई मानते हैं और कोई उससे अन्य रोग मानते हैं ॥ २५३-२५५ ॥

अस्यानुपशयः—

शैत्येनार्द्रतया चापि व्याधिरेष विवर्द्धते ।
स्त्रीभ्यः पुंसामयं व्याधि-र्बाहुल्येनाभिजायते ॥ २५६ ॥

ठण्डक से तथा जल से भीगने से यह व्याधि निश्चय बढ़ती है। और स्त्रियों से पुरुषों को यह व्याधि अधिकतर उत्पन्न होती है ॥ २५६ ॥

अस्य लक्षणम्—

सुप्तोत्थितस्योरसि जानुसन्धौ-रुजा च गुर्वी च दृढा च जङ्घा ।
ककुद्मती क्षीणबला ततो ना-सोऽङ्गुष्ठमाकृष्य चलेत्सकृच्छ्रम् ॥ २५७ ॥

वक्रत्वं जानुसन्धेश्च-जङ्घायाश्चापि शीर्णता ।
पादसंस्थानवैरूप्य-मरतिश्चात्र संभवेत् ॥ २५८ ॥

सोकर के उठे हुये पुरुष के छाती तथा जानुसन्धि में अधिक कठिन पीड़ा होती है। और जङ्घा तथा कमर में निर्बलता आ जाती है। इससे रोगी पैरके अंगूठे को घिसराता हुवा बड़ी कठिनता से चल पाता है। इसमें जानु सन्धि का टेढ़ापन, जङ्घा की शिथिलता तथा पैरकी विरूपता और बेचैनी होती है ॥ २५७-२५८ ॥

अथ खञ्जनिकस्य चिकित्सा—

आरोग्यमिच्छता त्याज्यं खञ्जनीद्विदलाशनम् ।
निदानसेविनो यस्मा-न्न व्याधिर्विनिवर्त्तते ॥ २५९ ॥
वातघ्नं पोषणं यच्च पानमन्नञ्च भेषजम् ।
प्रयोज्यमिह तत्सर्वं विविच्य भिषजा सदा ॥ २६० ॥

खञ्जनिक रोग से छुटकारा चाहने वाले को उचित है कि खञ्जनी की दाल खाना छोड़ दे। क्यों कि रोग पैदा करने वाले पदार्थों का सेवन करने वाले की व्याधि दूर नहीं होती है। इस रोग में वातनाशक तथा पुष्टिकारक जो २ अन्न-पान या औषध हों उन सबों का सदा विचार कर वैद्य रोगी के लिये देवे ॥ २५९-२६० ॥

बलां गन्धतृणं माषं त्रिवृतां कटुरोहिणीम् ।
क्वाथयित्वा पिबेत्तोयं खञ्जन्यामयशान्तये ।
वातामयहरं सर्पि-स्तैलं चात्र प्रयोजयेत् ॥ २६१ ॥

और बरिआरा, रोहिस घास (गन्धतृण), उरद, निसोथ और कुटकी इन सबों को समभाग में लेकर क्वाथविधि से जल में पकाकर उतार छानकर उस जल को खञ्जनिकरोग दूर करने के लिये पिलाना चाहिये ।

और जो २ वातरोगनाशक घृत या तेल हों उनसबों का भी इस रोग में प्रयोग करना हितकर होता है ॥ २६१ ॥

यकृत्प्लीहारिलौहम्--

यकृद्रोगाधिकारे प्लीहाधिकारोक्तरसः--

हिङ्गुलसंभवं सूतं गन्धकं लौहमभ्रकम् । तुल्यं द्विगुणताम्रन्तु शिला च रजनी तथा २६२
जयपालं टङ्कणं च शिलाजतु समं रसात् । एतत् सर्वं समाहृत्य चूर्णीकृत्य विमिश्र २६३

दन्ती त्रिवृच्चित्रकं च निर्गुण्डी त्र्यूषणं तथा ।
आर्द्रकं भृङ्गराजश्च रसैस्तेषां पृथक् पृथक् ॥ २६४ ॥
भावयित्वा वटीं कुर्याद् बदरास्थिमितां भिषक् ।
प्लीहानं यकृतं चैव चिरकालानुबन्धिनम् ॥ २६५ ॥
एकजं द्वन्द्वजं चैव सर्वदोषभवं तथा ।
हन्यादष्टोदराणीह ज्वरं पाण्डुं च कामलाम् ॥ २६६ ॥
शोथं हलीमकं हन्ति मन्दाग्नित्वमरोचकम् ।
यकृत्प्लीहारिनामेदं लौहं जगति दुर्लभम् ॥ २६७ ॥

हिंगुल (सिंगरफ) से निकाला हुआ पारा, शुद्ध गन्धक, लौह भस्म और अभ्र भस्म प्रत्येक १-१ तोला, ताम्रभस्म २ तोला, मैनशिल, हल्दी, शुद्ध जयपाल, शुद्धटङ्कण (सुहागा) और शुद्ध शिलाजीत ये सब प्रत्येक पारे के बराबर (१-१ तोला) पृथक् लेकर सबों को चूर्ण करके बाद एकत्र कर दन्ती, निसोथ, चित्त, संभालू, सोंठ, पीपल, कालीमिर्च, अदरख, भांगरा इनके पृथक् २ रसों की उक्त चूर्ण में भावना देकर बेर की गुठली के बराबर २ गोलियां बांध बना लेवें । यह 'यकृत्प्लीहारिनामक' जगत् में दुर्लभ रस सेवन करने से बहुत दिन का प्लीहा, यकृत्, एकदोषज, द्विदोषज, सर्वदोषज ज्वर, ८ प्रकार के उदर रोग, पाण्डु, कामला, शोथ, हलीमक, अग्नि की मन्दता और अरुचि को दूर करता है ॥ २६२-२६७ ॥

गदोद्वेगाधिकारे—

१६१ तमे श्लोके वातव्याध्युदितानि तैलानि घृतानि प्रयोज्यानीति निर्देशेन

नारायणतैलम् (चक्रदत्तोक्तम्)

बिल्वोऽग्निमन्थः श्योणाकः पाटला पारिभद्रकः ।
प्रसारण्यश्वगन्धा च बृहती कण्टकारिका ॥ २६८ ॥
बला चातिबला चैव श्वदंष्ट्रा सपुनर्नवा ।

एषां दशपलान् भागां-श्चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥ २६९ ॥
पादशेषं परिस्राव्य तैलपात्रं प्रदापयेत् ।
शतपुष्पा देवदारु मांसी शैलेयकं वचा ॥ २७० ॥
चन्दनं तगरं कुष्ठ-मेला पर्णीचतुष्टयम् ।
रास्ना तुरगगन्धा च सैन्धवं सपुनर्नवम् ॥ २७१ ॥
एषां द्विपलिकान् भागान् पेषयित्वा विनिक्षिपेत् ।
शतावरीरसं चैव तैलतुल्यं प्रदापयेत् ॥ २७२ ॥
आजं वा यदि वा गव्यं क्षीरं दत्त्वा चतुर्गुणम् ।
पाने बस्तौ तथाऽभ्यङ्गे भोज्ये चैव प्रशस्यते ॥ २७३ ॥
अश्वो वा वातसंभग्नो गजो वा यदि वा नरः ।
पङ्गुलः पीठसर्पी च तैलेनानेन सिद्ध्यति ॥ २७४ ॥
अधोभागे च ये वाताः शिरोमध्यगताश्च ये ।
दन्तशूले हनुस्तम्भे मन्यास्तम्भे गलग्रहे ॥ २७५ ॥
यस्य शुष्यति चैकाङ्गं गतिर्यस्य च विह्वला ।
क्षीणेन्द्रिया नष्टशुक्रा ज्वरक्षीणाश्च ये नराः ॥ २७६ ॥
बधिरा लल्लजिह्वाश्च मन्दमेधस एव च ।
अल्पप्रजा च या नारी या च गर्भं न विन्दति ॥ २७७ ॥
वातार्त्तौ वृषणौ येषा-मन्त्रवृद्धिश्च दारुणा ।
एतत्तैलवरं तेषां नाम्ना नारायणं स्मृतम् ॥ २७८ ॥
तगरं नतमत्र स्या-दभावे शीतली जटा ॥ २७९ ॥

बेल का गूदा, अरणी, सोनापाठा, पाढ़ल, नीम (या फरहद), गन्धप्रसारणी, असगन्ध, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, खिरंटी, कंघी, गोखरू, पुनर्नवा, पृथक् २ आधा सेर लेकर १०२ सेर ३२ तोला (४ द्रोण) जल में पकाना चाहिये। चतुर्थांशावशेष उतार छान, ६ सेर ३२ तोला तिल का तेल, सौंफ, देवदारु, जटामांसी, छरीला, वच, लालचन्दन, तगर, कूठ, इलायची, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, रासन, असगन्ध, सेंधानमक, पुनर्नवा पृथक् २ ३ या ४ तोला लेकर कल्क करें। शतावर का रस ६ सेर ३२ तोला, गाय या बकरी का दूध २९ सेर ४८ तोला, सबको लेकर तैल की विधि से तैल सिद्ध करें।

यह तैल पीने, बस्ति तथा अभ्यङ्ग और खाने के लिये अत्यन्त उत्तम है। वातरोगयुक्त घोड़ा, हाथी या मनुष्य इसके प्रयोग से नीरोग होते हैं। पङ्गु तथा लकड़ियों के सहारे घसीट कर चलने वाला भी इस तेल के प्रयोग से नीरोग हो जाता है। अधोभाग तथा शिर में स्थित वात शान्त होता है। दन्तशूल, हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ, गले का जकड़ना तथा जिसका एक अङ्ग सूख रहा हो, गति विह्वल

हो, इन्द्रियों की सामर्थ्य नष्ट हो गई हो, शुक्र क्षीणता हो, ज्वर से क्षीण हो गया हो, बहिरे, जिह्वाशक्ति रहित, मन्द बुद्धि वाले पुरुष, जिन स्त्रियों को सन्तान न होती हो या जिन्हें गर्भ धारण ही नहीं होता हो, जिसके वृषण (अण्ड) वात से दूषित हों, भयङ्कर अन्त्र की वृद्धि हो, उनके लिये 'नारायण' नाम का यह तैल अत्यन्त लाभदायक है।

तगर के अभाव में शीतली जटा (शीतकुम्भी नाम का जल का वृक्ष) का ग्रहण करना चाहिये ॥ २६८–२७९ ॥

छागलाद्यं घृतं च (चक्रदत्तोक्तम्)—

आजं चर्मविनिर्मुक्तं त्यक्तश्रृङ्गखुरादिकम्। पञ्चमूलद्वयं चैव जलद्रोणे विपाचयेत् ॥
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं विपाचयेत्। जीवनीयैः सयष्ट्याह्वैः क्षीरं चैव शतावरीम् ॥
छागलाद्यमिदं नाम्ना सर्ववातविकारनुत्। अर्दिते कर्णशूले च बाधिर्ये मूकमिन्मिने ॥
जडगद्गदपङ्गूनां खञ्जे गृध्रसिकुब्जयोः। अपतानेऽपतन्त्रे च सर्पिरेतत्प्रशस्यते ॥२८३॥

चर्म, सींग, खुर आदि से रहित बकरे का मांस २५ सेर, दशमूल २॥ सेर, एक द्रोण (२५ सेर ४८ तोला) जल में पकावें। चतुर्थांशावशेष उतार छान घी एक प्रस्थ और जीवनीय गण की औषध तथा मुलेठी का कल्क १ शराव और घी के समान मात्रा में शतावर का स्वरस तथा दूध लेकर घृत सिद्ध करें।

यह छागलादि नामक घृत सब प्रकार के वात विकार को नष्ट करने वाला है। और अर्दित, कर्णशूल, बहरापन, गूंगा तथा मिन्मिन होना, जड़ता, गद्गद होकर बोलना, पङ्गु, खञ्ज, गृध्रसी, कुब्ज, अपतानक और अपतन्त्रक रोगों में यह घृत लाभ करता है॥ २८०–२८३ ॥

तत्त्वोन्मादाधिकारे २३३ श्लोकेऽपस्मारहरघृते

महाचैतसघृतम् अपस्मारचिकित्सायां चक्रदत्तोक्तम्—

शणस्त्रिवृत् तथैरण्डो दशमूली शतावरी।
रास्ना मागधिका शिग्रुः क्वाथ्यं द्विपलिकं भवेत् ॥ २८४ ॥

विदारी मधुकं मेदे द्वे काकोल्यौ सिता तथा।
एभिः खर्जूरमृद्वीका–भीरुमुञ्जातगोक्षुरैः ॥ २८५ ॥

चैतसस्य घृतस्याङ्गैः पक्तव्यं घृतमुत्तमम्। महाचैतससंज्ञन्तु सर्वापस्मारनाशनम् ॥
गरोन्मादप्रतिश्याय–तृतीयकचतुर्थकान्। पापालक्ष्म्यौ जयेदेतत् सर्वग्रहविनाशनम् ॥
श्वासकासहरं चैव शुक्रार्त्तवविशोधनम्। घृतमानं क्वाथविधि–रिह चैतसवन्मतः ॥

कल्कश्चैतसकल्कोक्त–द्रव्यैः सार्द्धश्च पादिकः।
नित्यं मुञ्जातकाप्राप्तौ–तालमस्तकमिष्यते ॥ २८६ ॥

सन, निशोथ, रेड़ के जड़ की छाल, दशमूल, शतावर, शतावर, रासन, छोटी पीपल, सहिजन की छाल, ८-८ तोला लेकर १ द्रोण जल में पकाकर चतुर्थांशावशेष उतार लें। छानकर इसमें विदारीकन्द, मुलेठी, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीर-काकोली, मिश्री, पिण्डखजूर, मुनक्का, शतावर, मुञ्जात, गोखरू तथा चौतसघृत के समान कल्याण (पानीयकल्याणक) घृत के इन्द्रायण के बीज, आंवला, हरड, बहेड़ा, संभालू के बीज, देवदारु, एलुवा, सरिवन, तगर, हल्दी, दारुहल्दी, सारिवा, कृष्ण शारिवा, प्रियङ्गु, नीलोफर, छोटी इलायची, मंजीठ, दन्ती, अनारदाना, नाग-केशर, तालीशपत्र, बड़ी कटेरी, मालती के नवीन पुष्प, वायविडङ्ग, पिठवन, कूठ, सफेद चन्दन, पद्माख ये सब कल्क द्रव्य लेकर सब का मिलाकर घृत का चौथाई भाग लेकर घृत सिद्ध करना चाहिये। यहां पर वर्णन न होने पर भी घी का चौगुना जल मिला लेना चाहिये। इस महाचौतस घृत के सेवन से समस्त अपस्मार, कृत्रिम विष, उन्माद, जुकाम, तृतीयक तथा चतुर्थक, ज्वर, पाप, कुरूपता, ग्रहदोष, श्वास तथा कास दूर होते हैं। आर्त्तव तथा वीर्य शुद्ध होता है। यहां पर घृत तथा काथ का मान चौतसघृत के समान जानना चाहिये। चौतसघृतोक्त कल्कद्रव्यों के साथ सम्पूर्ण कल्क घृत का चतुर्थांश ही होना चाहिये। मुञ्जात की अप्राप्ति होने पर ताड का मस्तक मिलाकर ग्रहण करना चाहिये। मात्रा ३-६ माशे है ॥ २८४-२८९ ॥

इत्यायुर्वेदविज्ञानपरिशिष्टं समाप्तम् ।

इत्यायुर्वेदविज्ञान-सार-सर्वस्वमद्भुतम् ।
विशिष्टं शिष्यसङ्क्लिष्ट-परिशिष्टं कृतं मया ॥ १ ॥
द्विशून्याम्बरदृक्संख्ये-वैक्रमेऽब्देऽधिकाशिकम् ।
दीपावल्यां भिषग्रत्न-ब्रह्मशङ्करशास्त्रिणा ॥ २ ॥

---

* इति शम् *

मुद्रकः—विद्याविलास प्रेस, बनारस सिटी ।

भावप्रकाशः

नवीन वैज्ञानिक "विद्योतिनी" भाषाटीका सहितः।
[शारीरक भाग पर प्राच्य पाश्चात्य मतों का समन्वयात्मक परिशिष्ट, निघण्टुभाग पर विशिष्ट विवरण तथा चिकित्सा प्रकरणपर प्रत्येक रोगों पर प्राच्य पाश्चात्य मतों की समन्वयात्मक विशद टिप्पणी से सुशोभित]

इसमें गर्भप्रकरण के ऊपर डाक्टरी तथा आयुर्वेदिक मतानुसार समन्वयात्मक परिशिष्ट तथा निघण्टुप्रकरण पर प्रत्येक औषधियों के साथ साथ विशद विवरण एवं चिकित्साप्रकरण में प्रत्येक रोगों को डाक्टरी मतानुसार निदानादि के साथ चिकित्सा तथा आयुर्वेदिक और डाक्टरी मतों की समन्वयात्मक टिप्पणी भी दी गई है। इस तरह से इस एक ग्रन्थ के अवलोकन से बुद्धिमान व्यक्ति को आयुर्वेद के साथ २ डाक्टरी मतों का भी बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो जायगा। हम दृढ़ता किन्तु नम्रता के साथ कह सकते हैं कि आयुर्वेद विद्यापीठ, विश्वविद्यालयों आदि आयुर्वेद के छात्रों व वैद्यों के लिए बड़ा ही उपयोगी यह संस्करण छपा है। द्वितीय संस्करण पूर्वार्द्ध १२)
संपूर्ण ग्रन्थ २२)

भावप्रकाशः-ज्वराधिकारः

विद्योतिनी-विस्तृत भाषाटीका परिशिष्ट सहितः।

विद्यार्थियों के सुविधा के लिये ही इसे अलग प्रकाशित किया है। इसमें श्लोकों का भाषानुवाद नवीन वैज्ञानिक ढङ्ग पर तथा क्वाथादिकों के बनाने की विधि तथा मात्रा आदि का उल्लेख तथा स्थल २ पर आवश्यक टिप्पणियों का भी समावेश किया गया है। एवम् अन्त में परिशिष्ट रूप में ग्रन्थोक्त ज्वरों पर आधुनिक डाक्टरी मतानुसार निदान का सुन्दर रीति से विवेचन किया गया है तथा आधुनिक प्रचलित अन्य ज्वरों का भी डाक्टरी मतानुसार विशद विवरण भी दिया गया है। प्रश्नपत्रों का भी समावेश है। नवीन सुन्दर चमकते टाईप सफेद चिकने मोटे कागज पर ग्रन्थ अत्यन्त उत्तम छपा है [का. १२०] ४)

प्राप्तिस्थानम्-चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस सिटी।